साधन सोपान

—सुदर्शनसिंह 'चक्र'

योगदर्शन के यम नियम की आख्यायिका व्याख्या—

साधन-सोपान

लेखक

श्री सुदर्शनसिंह 'चक्र'

प्रकाशक

मानस संघ

रामवन (जि० सतना) म० प्र०

प्रकाशक—

मानस संघ

रामवन (सतना)

प्रथम संस्करण २०००
जुलाई १९६८
मूल्य ७५ पैसे

मुद्रक
निर्मल जैन,
सुषमा प्रेस, सतना.

समर्पण—

उन श्रद्धेय साधकों के श्रीचरणों में—

जो सच्चे सरल हृदय से उस श्यामसुन्दर को किसी भी रूप में और किसी भी साधन से प्राप्त करने के प्रयत्न में लगे हैं।

उन्हीं का तुच्छ सेवक
'चक्र'

अनुक्रमणिका

पृष्ठ

यम

१—अहिंसा ६
२—सत्य १६
३—अस्तेय २१
४—अपरिग्रह २६
५—ब्रह्मचर्य ३५

नियम

६—शौच ४१
७—सन्तोष ४८
८—तप ५५
९—स्वाध्याय ६१
१०—ईश्वर प्रणिधान ६७

—:o:—

दो बातें

साधन आप चाहे जो भी करें और जिस भी प्रकार का करें, पर प्रत्येक आध्यात्मिक साधन में अन्तर्मुखता की आवश्यकता होती है। जो मनुष्य को अन्तर्मुख न करे, वह साधन नहीं हो सकता। वह तो विषय होगा और बहिर्मुख करेगा जो कि पतन एवं अशान्ति का कारण है।

प्रत्येक धर्म की आधार शिला सदाचार है। यदि वह सचमुच धर्म है। यदि विश्व की धारिका शक्ति से मानव को एक करना उसका उद्देश्य है। आन्तरिक सुख एवं साधन का प्रत्येक पथ सदाचार की भूमि में से जाता है फिर आप उस भूमि को वन कहें या उपवन।

योग दर्शन के यम और नियम सार्वभौम है। प्रत्येक धर्म, प्रत्येक आध्यात्मिक सम्प्रदाय एवं प्रत्येक साधन के लिये वे अनिवार्य हैं। भगवान पतञ्जलि के इन दस सूत्रों को किसी भी धार्मिक ग्रन्थ में आप प्राप्त कर लेंगे। भले ही उनका माहात्म्य और क्रम वहां यह न हो।

नैष्ठिक रूप से इन यम या नियमों में से किसी एक की दृढ़ता पूर्वक पूर्णता कर देने से जो लाभ होता है, साधक को जो स्थिति प्राप्त होती है, वह एक एक सूत्रों में सूत्रकार महर्षि ने बतलाया है। कहानियों के शीर्षकों के नीचे आप उन्हीं माहात्म्य या फल सूचक सूत्रों को देख सकेंगे।

मैंने सूत्रों का अनुवाद नहीं दिया। यह आवश्यक भी नहीं समझा। पूरी कहानी उसी सूत्र का अनुवाद ही तो है। यों कहानी के भीतर कहीं न कहीं सूत्र का अक्षरानुवाद भी दिया गया है। ध्यान देकर ढूँढ़ना चाहेंगे तो उसे प्राप्त करने में आपको अधिक परिश्रम न करना पड़ेगा।

कोई भी साधन दूसरे साधन का अङ्ग हो सकता है, पर साथ ही अपने आप में भी उसकी एक पूर्णता होती है। उसी पर दृढ़ हो जाने पर, उसी पर निष्ठा कर लेने पर साधक उस पूर्णता को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार प्रत्येक साधन की पूर्णता का वाह्य रूप पृथक पृथक होता है। साथ ही मुझे कहने दीजिये कि पूर्ण एक ही तत्त्व है। किसी की भी पूर्णता करने पर आप उसी पूर्ण को प्राप्त करेंगे। परिधि में प्रत्येक सीधी रेखा यदि वह भीतर चली है तो केन्द्र पर ही पहुँचेगी। प्रत्येक साधन की पूर्णता का वास्तविक स्वरूप एक ही है। पूर्ण दो चार प्रकार के नहीं होते।

यम नियम प्रत्येक साधन मार्ग के आरम्भिक अङ्ग हैं। साथ ही उनका नैष्ठिक आलम्बन एक पूर्णता रखता है। इन पूर्णताओं के वाह्य रूप में भेद है। योग दर्शनकार ने प्रत्येक यम या नियम की पूर्णता का वह वाह्य स्वरूप बतलाया है।

भगवान व्यास ने योग दर्शन पर भाष्य लिखा है। उस भाष्य में इन यम नियम के सूत्रों की व्याख्या में उन्होंने बतलाया है कि किस प्रकार उनमें से किसी का नैष्ठिक आलम्बन करने पर क्रमोन्नति करता हुआ साधक सूत्रकार की बताई अवस्था तक पहुँचता है।

भगवान व्यास ने सूत्रों का रहस्य अपने भाष्य में स्पष्ट किया है, ग्रन्थियां समझाई हैं, शङ्कायें उपस्थित करके उनका समाधान किया है। उन्होंने छोटे सूत्रों के रहस्य को भाष्य में खोलकर सरल सुलभ कर दिया है। योग दर्शन समझने की इच्छा रखने वाले को अवश्य भाष्य का मनन करना चाहिये।

यम-नियम के सूत्रों की यह आख्यायिका व्याख्या और कुछ है नहीं। यह उन सूत्रों के व्यास भाष्य का अपने ढङ्ग पर हिन्दी अनुवाद है। सीधा अनुवाद तो गम्भीर एवं दार्शनिक होता। वह विवेचनपूर्ण होता। यहां घटना के द्वारा उस विवेचन को स्पष्ट किया गया है।

निबन्ध के तर्क एवं युक्तियां कहानी में आकर घटना, भाव, व्यक्ति और परिणाम हो जाते हैं। इस प्रकार कहानी गम्भीर से गम्भीर बुद्धिगम्य विषय को सबके लिये सरल सुबोध तथा हृदयग्राही बना देती है।

कहानी पढ़ते समय हमें पता भी नहीं लगता कि हम कोई गूढ़ विषय पढ़ रहे हैं या समझ रहे हैं। वह विषय स्वाभाविक ढ़ङ्ग से हमारे हृदय में आ जाता है। हम ऐसा समझते हैं कि ऐसा तो होना ही था। मानो वे सब युक्ति तर्क हमारे मन में पहिले से उपस्थित थे।

यों तो उच्च कोटि की कहानी ही वह है जो अपने पाठक को कुछ दे। कुछ समझावे या कोई तत्त्व हृदयङ्गम करावे। उसकी भाव-धारा किसी विशेष उद्देश्य की ओर मोड़नेमें समर्थ हो और इस प्रकार समाज में किसी सत्य की स्थापना करे, पर किसी सूत्र को लेकर या किसी प्राचीन ग्रन्थकार के किसी सिद्धांत वाक्य को लेकर इस प्रकार उस पर कहानी लिखने का यह बाल-प्रयास सम्भवतः प्रथम ही है।

जब प्राचीन ग्रंथों पर व्याख्यायें लिखी जाती हैं, उन पर बड़े बड़े निबन्ध लिखे जाते हैं, तो क्यों कहानियों के द्वारा उसके उद्देशों को सरल सुलभ करके सर्व साधारण तक न पहुँचाया जावे ? कहानियों के द्वारा उस सिद्धांत की जो व्याख्या होगी, वह और भी हृदयग्राही होगी।

इसी प्रकार के विचारों के कारण मैं इन कहानियों के लिखने में प्रवृत्त हुआ। जहां तक सम्भव हो सका है मैंने पूरी व्याख्या सुलुझाने का प्रयत्न किया है और साथ ही कहानी के सहज स्वरूप की रक्षा की चेष्टा भी। सफलता का निर्णय सदा से पाठकों के हाथ में रहा है।

पूरे योगदर्शन, न्याय, मीमांसा, वैशेषिक, सांख्य तथा ब्रह्मसूत्रों को कहानियों में समझाया जा सकता है। ऐसा मेरा विश्वास है। यदि ऐसा हो जाय तो ये गूढ़तर शास्त्र सबके लिये सुगम हो जायेंगे।

अवश्य ही यह कार्य कहानी कला के उन सधे कलाकारों से सम्पन्न हो सकेगा जो साथ ही उपरोक्त शास्त्रों के मर्मज्ञ विद्वान भी हों। मैंने तो अपनी योग्यतानुसार सबसे सरल अंश चुनकर यों ही पाचो सवारों में नाम लिखाया है।

मानस सङ्घ, रामवन. —लेखक

साधन सोपान

अहिंसा

[अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः]

'इन हिंसकों का पालन अच्छा नहीं!' बगलमें बैठे केशरीशावककी ओर संकेत करके किशोरने माधवरावसे कहा 'ये किसीके होते नहीं। पता नहीं इन्हें कब क्रोध आ जावे। कम-से-कम इस प्रकार स्वतन्त्र तो नहीं ही रखना चाहिये।'

'ओह, यह भोला शिशु' माधवरावने उस सिंहशिशुके मस्तकपर हाथ फेरते हुये कहा 'इसे क्या बाँधकर रक्खा जा सकता है? तुम देखते नहीं कि यह मुझे कितना चाहता है। कुत्ते के समान मेरे पीछे लगा फिरता है।'

'फिर भी.........' किशोरने रोका; परन्तु माधवराव बिना रुके बोलते गये। 'फिर भी यह हिंसक है और धोखा दे सकता है, तुम यही तो कहना चाहते हो? सच पूछो तो मैंने

इसे इसी लिये पाला भी है। इसकी सहोदरा मेरे द्वारा रक्षित न हो सकी। वह बेचारी इसे अकेली छोड़ गयी। अभी एक महीना ही तो हुआ है उसे मरे। और इसकी माँ—इसके देखते-देखते मैंने इसकी माँ का वध किया है।' माधवरावके नेत्र टपकने लगे। कण्ठ भर आया। आँसुओंको पोंछकर उन्होंने अपने पालतू सिंहको देखा। वह चुपचाप इनके मुखको इस प्रकार देख रहा था, मानो वह भी इनके कष्टसे रोना ही चाहता हो।

'मैं इसकी माताका हत्यारा हूँ! यदि यह मुझसे अपनी माताका बदला ले तो वह न्याय होगा। अपने दुष्कर्मका इस प्रकार प्रतीकार करनेका अवसर प्राप्त करने की आशा से ही मैंने इसका पालन किया। लेकिन यह अपनी माता के वधिकपर भी विश्वास करता है। देखो न! उलटे मेरे दुःखसे पीड़ित होता है। इसके प्रतीकारकी भी आशा कहाँ?'

(२)

वृक्षोंकी आड़ थी; फिर भी घोड़ेकी टापोंके शब्दने सिंहनीको सावधान कर दिया। अपनी गुफासे वह बाहर आयी और तनकर खड़ी हो गयी। उसके साथ उसके दोनों बच्चे भी निकल आये। यद्यपि सिंहनीने उन्हें गुफामें ढकेलना चाहा; किन्तु बच्चे तो बच्चे ही ठहरे। वे तो परिस्थिति समझते नहीं। इधर-उधर खिसककर वे माँके पास ही रहना चाहते थे। इधर घोड़ेके पैरोंका शब्द पास आ गया था और सिंहनीको अवकाश नहीं था बच्चोंको गुफाके भीतर लेकर जानेका। उसने उन्हें गुफाके द्वारपर ढकेल दिया और आप कान खड़े करके गुर्राने लगी।

बच्चा देनेपर तो गाय भी मारने दौड़ती है बच्चेके पास जानेवालोंको, फिर सिंहनी तो सिंहनी ही है। बच्चे समीप होनेपर वह असह्य हो जाती है। माधवराव-जैसा प्रवीण शिकारी इसे भलीभाँति जानता था। उसे पता था कि यदि प्रथम लक्ष्यमें ही वह धराशायी नहीं हो गयी तो शिकारीको स्वयं शिकार बननेमें देर न लगेगी। उसके कराल आक्रमण में सावधानीसे लक्ष्य लेना सरल नहीं है।

भीलोंने ठीक पता बतला दिया था, जहाँ सिंहनीने गुफामें बच्चे दिये थे। झाड़ियों की सघनताका आश्रय लेते हुये माधवरावका घोड़ा बढ़ा आ रहा था। अन्तमें एक झाड़ीके पीछे नन्हें-से मैदानमें अपनी ओर मुख किये वह मृगेन्द्रवधू दृष्टि पड़ी। घोड़ा रुक गया। धनुषपर बाण चढ़ चुका था। एक सधा हुआ हाथ छूटा। चीत्कारसे जंगल गूँज उठा। सिंहनी तड़पी और गिर गयी।

निपुण शिकारी समझ गया कि अब वह उठ नहीं सकती। घोड़ेसे उतरकर उसे पेड़की डालसे बाँध दिया और स्वयं सिंहनीकी ओर बढ़ा। बाण ठीक मस्तकके मध्यमें लगा था। सिंहनी आड़े पड़ी थी और उसके दोनों बच्चे उसके पास दौड़ आये थे। एक स्तन पी रहा था, दूसरा मुख सूँघ रहा था।

शिकारी स्तम्भित हो गया। उसने देखा—मस्तकसे बाणके पाससे रक्त टपक रहा है। दो भोले शिशु माँके पास हैं और सिंहनीका वह निष्प्राण शरीर अब भी उसे अपने अग्नि-नेत्रोंसे घूर रहा है। 'हत्यारे इन्हें भी मार!' मानो वह कह रही है। दो क्षण वह रुका रहा और तब धनुष फेंककर दौड़ा और सिंहनीके मुख और पंजोंके मध्य गिर पड़ा। मानो सिंहनी

अभी जीवित है और उसे उसके कृत्यका बदला देगी। लेकिन ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। सिंहनी ज्यों-की-त्यों उसे घूरती पड़ी रही। अब वह सिंहनीका शवमात्र था। केवल वे बच्चे इस अपरिचितसे डरकर गुफामें भाग गये।

अन्ततः माधवराव गम्भीर व्यक्ति थे। वे उठे और उन्होंने सीटी दी। उनके सहचर जो उन्हें ढूँढ ही रहे थे, आ गये। बड़े आदरपूर्वक उन्होंने सिंहनीके उस शवको श्रीनर्मदाजीमें प्रवाहित कर दिया। सिंहचर्मका इस प्रकार व्यर्थ जाना उनके अनुगतोंको सह्य नहीं था; लेकिन वे अपने नायककी कठोर एवं व्याकुल मुद्राके सम्मुख कुछ भी कहनेका साहस न कर सके। वे दोनों बच्चे माधवरावके घर लाये गये। कहना नहीं होगा कि माधवरावने वह फेंका हुआ धनुष फिर कभी नहीं उठाया।

(२)

सहसा चौंककर माधवरावने पीछे देखा। उनका केशरी एक बछड़ेको पटक चुका था और बछड़ा डकार रहा था। 'केशरी!' स्वामीके दृढ़ स्वर एवं कठोर नेत्रोंको देखकर वह सिंह संकुचित हो गया। अपराधीकी भाँति सिर झुकाये वह उनके समीप आकर खड़ा हो गया। बछड़ा उठा और प्राण लेकर भागा। 'सिंह बिगड़ गया है, इस भयसे पासके खेतका किसान भी हल-बैल छोड़कर भाग चुका था। माधवरावने एक बार गम्भीर दृष्टिसे सिंहको देखा और फिर घरकी ओर लौट पड़े।

गुरुदेवने कहा था कि 'जिसके हृदयमें हिंसा नहीं है, उसके समीप पहुँचते ही सभी प्राणी हिंसा भूल जाते हैं।' दूसरे प्राणियोंकी बात तो दूर रही, मेरा पालतू केशरी भी अपनी हिंसा

नहीं भूल पाता। अभी उस दिन उसने नौकरपर पंजा चलाया था और आज बछड़ेको दबा बैठा। जब दूध पिलाकर पालनेपर भी वह अपनी हिंसा न छोड़ सका तो दूसरोंकी क्या चर्चा? तब क्या गुरुदेवने ठीक नहीं......ऐसा कैसा हो सकता है? सच तो यह है कि मैंने केवल शिकार छोड़ा है। हाथोंसे हिंसा छोड़नेपर भी मैं अहिंसक कहाँ हूँ? अभी कल नौकरके द्वारा लालटैनका शीशा टूटनेपर जल उठा, परसों बच्चेको मारते-मारते रुका। माधवराव गम्भीरता से सोच रहे थे।

'यह हाथमें लाठी? कुत्ता, सर्प, पशु आदि आक्रमण करे तो उसका निवारण होगा। सीधे शब्दोंमें उसे मारूँगा। यह हिंसा नहीं है?' उन्होंने लाठी फेंक दी। 'यह पहरेदार? कोई चोर, डाकू आये तो......' उन्होंने पहरेदारको विदा कर दिया वेतन देकर। इसी प्रकार वे और भी बहुत कुछ करते एवं सोचते रहे। यह क्रम चला कई दिनोंतक। उनके पास न तो पहरेदार रहा और न कुत्ता। घरके सब अस्त्र-शस्त्र बाँट दिये गये। यहाँतक कि ताला-कुंजी भी नहीं रक्खा।

लोग समझते थे कि माधवराव पागल हो गये हैं। कुछ ऐसे भी लोग थे जो उनपर श्रद्धा भी करने लगे। जो भी हो, माधवरावने अपनी समस्त सम्पत्ति जो केशरीके नाम करा दी, वह किसीको अच्छा नहीं लगा। और तब तो सबको और भी बुरा लगा जब केशरीके बीमार होकर मर जानेपर वे बच्चोंकी भाँति फूट-फूटकर रोने लगे। अन्ततः उन्होंने उसकी चिकित्सा एवं सेवामें कुछ उठा तो रक्खा नहीं था। फिर एक घातक पशुके लिये इतना व्याकुल होना कहाँकी समझदारी है? लोगोंने समझा कि सिंह क्या मरा; एक विपत्ति टली। अन्यथा उससे सर्वदा खटका लगा ही रहता था।

आलोचनाएँ तो होती ही हैं और माधवरावकी अधिक हुई; किन्तु वे थे अपनी धुनके पक्के। लोगोंकी ओरसे उन्होंने अपनेको बज्रबधिर बना लिया। उनका मकान था ग्रामके एक ओर। मकानके सम्मुख थोड़ा हटकर उन्होंने केशरीकी एक पूरे कद्की प्रस्तर मूर्ति निर्मित कराकर उसे एक पक्के चबूतरेपर स्थापित करा दिया। प्रायः सन्ध्याको वे उस मूर्तिके समीप चबूतरेपर बैठे या उसपर हाथ फेरते मिलते थे।

(४)

दो साँड़ लड़ रहे थे, माधवराव उधरसे निकल गये। दोनोंने लड़ना तो दिया छोड़ और छोटे बछड़ोंके समान उछलकर उनके समीप आ गये। उन्होंने दोनोंको पुचकारा, उनके सिर एवं शरीरपर हाथ फेरा। 'आपसमें लड़ा नहीं करते।' मानो उनके आदेशको पशुओंने समझ लिया। दोनों परस्पर परिचितके समान खेलने लगे।

'माधवराव तो संत हो गये!' एक देखनेवालेने कहा 'देखो न, साँड़ भी उनकी आज्ञा मानते हैं!' दूसरे ने कहा— 'साँड़ तो फिर भी सीधे होते हैं, मैंने स्वयं देखा है कि उस सिंह-मूर्तिके चबूतरेपरसे वे एक बिच्छूको हाथसे उठाकर नीचे रख रहे थे। बिच्छूने डंक मारना तो दूर, शरीर भी नहीं हिलाया।' लेकिन मैं तो उस दिन घबड़ा गया जब मैंने देखा कि मेरी छोटी बच्ची उस चबूतरेपर एक काले सर्पको दोनों हाथोंसे थप-थपा रही है और साँप काटनेके बदले फण बचाता फिरता है। इतना ही नहीं, वहीं एक भेड़िया भी गुम-सुम बैठा था और रामूकी बकरीके बच्चे कभी चबूतरेसे उसकी पीठपर और कभी उसकी पीठसे चबूतरेपर उछल रहे थे।'

सब अपनी-अपनी सुना रहे थे, इतनी देरमें पटेल भी आ गये। उन्होंने अपना अनुभव बताया 'उस दिन मैं जमादार पर बहुत असन्तुष्ट था। कहीं मिलता तो खाल खींच लेता। ढूँढ़ते-ढूँढ़ते उसका पता लगा माधवरावके दालानमें। मैं आग-बबूला हुआ पहुँचा दालानके पास जाते-न-जाते मेरा क्रोध पानी हो गया। रावको देखते ही मुझे बड़ी लज्जा आयी। तभीसे मैंने समझ लिया कि वे अवश्य कोई सिद्ध महात्मा हैं।'

❀ ❀ ❀

माधवरावका शरीर अब नहीं रहा। उनके प्रस्तर केशरीको लोगोंने सिन्दूरसे रंग दिया है और देवीका वाहन समझकर वे उसकी पूजा करते हैं। देखा-देखी मध्यप्रान्त एवं बरारके अधिकांश ग्रामोंमें ग्रामसे बाहर पत्थर या मिट्टीकी सिंह अथवा व्याघ्रमूर्ति बनाकर पूजनेकी प्रथा चल पड़ी जो अबतक चल रही है। ग्रामीणोंका विश्वास है कि इस प्रकारकी पूजासे वनपशु उन्हें तंग नहीं करेंगे। सुना जाता है कि उस सिंहमूर्तिके समीप अब भी कोई प्राणी दूसरेपर अपना क्रोध प्रकट नहीं करता।

सत्य

[सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्]

दिन विदा होनेको था। सूर्यभगवान् अस्ताचलपर पहुँच चुके थे। सन्ध्याकी लालिमाने दिशाओंके साथ तरुपल्लवों एवं पृथ्वीको भी अनुरञ्जित कर दिया था। निर्भरका निर्मल प्रवाह सिन्दूरी हो चुका था। पक्षी कलरव करते नीड़ोंको लौट रहे थे। मयूरोंकी केकासे कानन मुखरित हो उठा।

गन्तव्य अभी सुदूर था। पथिक श्रान्त हो चुका था और उसके पैर अब सत्याग्रह करने लगे थे। भालपर पसीनेके बड़े-बड़े बिन्दु चमक रहे थे। उसने अञ्जलि भरकर अपने मुखको प्रवाहके जलसे धोया और तृषा शान्त की। इसके अनन्तर वह कलियोंके भारसे झुके हरसिंगारके नीचेकी स्वच्छ शिलापर अपने कंधेका कम्बल डालकर उसीपर लेट गया। कुछ ही क्षणोंमें उसकी नासिकासे खर्राटेकी आवाज निकलने लगी।

शरद्की वही शुभ्र पूर्णिमा थी जिसमें कभी लीलाधरके अधरोंसे लगी वंशीने त्रिभुवनको सुधा-स्नात किया था। धवल ज्योत्स्नाकी गोदमें नीरव शान्त वनस्थली सुषुप्ति सुखका अनुभव कर रही थी। पथिक एक पूरी निद्रा ले लेनेके बाद जगा। निशीथमें उसे क्षुधाने क्षुभित किया और अपने झोलेसे वह साथ लाया पाथेय निकालकर भोजन करने लगा।

क्षुधा शान्त हो गयी। निर्झरके मधुर जल ने उसे सन्तुष्ट कर दिया। प्रगाढ़ निद्राने पथ-श्रम दूर कर ही दिया था। शशांक-के इस महोत्सवमें पथिक प्रफुल्ल था। उसका हृदय शान्त और

प्रसन्न था। हरसिंगारकी कलिकाएँ खिलने लगी थीं। उनकी मधुर सुगन्धिसे वायु आनन्द प्रदान कर रहा था। पथिकने पुनः शयनका विचार नहीं किया। इतने शान्त सुहावने समयको वह यों ही निद्रामें खोना नहीं चाहता था। उसने उसी कम्बलपर आसन लगाया और अपने झोलेसे कुछ कागज, नोटबुक, पेन्सिल प्रभृति निकालकर वह अपने आगेके कार्यक्रमको निश्चित करनेमें लग गया।

नोटबुकमें उसीने कभी लिखा था 'सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्' और इस पंक्तिके नीचे लाल पेन्सिलसे चिह्न लगा था। वह सोचने लगा 'सत्यकी प्रतिष्ठासे कर्मका इच्छित फल प्राप्त होता है' यह महर्षि पतञ्जलिका वचन है। मैंने इसपर चिह्न भी लगाया है कि अवसर पड़नेपर इसपर विचार करूँगा। महर्षिका वाक्य मिथ्या तो हो नहीं सकता, फिर क्यों न सब जंजाल और दाँवपेचको छोड़कर इसीसे काम निकालूँ। पथिकको पुनः आलस्य प्रतीत हुआ। कर्तव्यके सम्बन्धसे वह निश्चित हो गया था, अतः लेट गया।

(२)

पिण्डारों (ठगों) ने बड़ा उत्पात मचा रक्खा था। वे यात्रियोंको तो लूटते ही थे, अवसर देखकर ग्राम एवं बाजारोंको भी लूट लेते थे। उनका दल बढ़ता ही जाता था। छत्तीसगढ़में उनका प्राबल्य था और उसमें भी रायपुर-राज्यमें। उन्होंने अब अपना सुदृढ़ संगठन बना लिया था एवं वे डकैती करने लगे थे।

यात्रियोंतक हो तो कोई बात भी है, ग्राम और बाजारोंसे बढ़ते-बढ़ते पिण्डारोंने आज राज्यका तहसीलसे आता हुआ खजाना भी लूट लिया था। खजानेके साथ आनेवाले सिपाहियों-

को उन्होंने मार दिया था। इससे सैनिकोंमें बड़ी उत्तेजना थी। सभीको प्राण प्यारे होते हैं। सभी जगह उपर्युक्त घटनाकी चर्चा थी और सिपाही नगरसे बाहर कहीं भी खजानेके साथ न जाने की सलाह कर रहे थे।

बात मन्त्रीतक पहुँची और उसने महाराजको एककी दो बनाकर समझाया। क्योंकि कुशल सचिव चाहता था कि पिण्डारोंका शीघ्र दमन हो। यही कारण है कि मोहनसिंहके समान शान्त और राज्यकी ओरसे कानमें तेल डालकर महलमें पड़े रहनेवाला राजा भी आज व्यग्र था। उसे चिन्ता हो गयी थी कि कहीं पिण्डारे और बढ़कर पूरे राज्यपर अधिकार न कर बैठें। अपनी सत्ताकी रक्षाके विचारसे राजा आज व्याकुल था।

लगभग सब चतुर, शिक्षित एवं वीर नागरिक निमन्त्रित हुए। उन दिनोंके राज्य ही कितने बड़े थे? नगरको एक अच्छा बाजार कहना चाहिये। महाराजका दरबार लगा। प्रश्न था 'पिण्डारोंका दमन कैसे हो?' अन्तमें मन्त्रीकी सम्मति सबको प्रिय लगी कि 'पिण्डारोंके गुप्त अड्डेका पता लगाया जाय। वहाँ वे सब लोग कब एकत्र और असावधान रहते हैं, यह ज्ञात किया जाय। उसी समय उनपर अचानक आक्रमण हो।

यह काम करे कौन? बड़ा टेढ़ा प्रश्न था। महाराजने बीड़ा रक्खा और पद, पुरस्कार तथा जागीरका लोभ दिखाया। प्राणपर खेलनेका प्रश्न था। सबके सिर झुके थे। बड़ी देर हो गयी, पर किसीने बीड़ा उठाया नहीं। अन्तमें एक ब्राह्मण युवक उठा। साँवला-दुबला शरीर, भालपर भस्मका त्रिपुण्ड् और भुजा तथा कण्ठमें रुद्राक्षकी माला। सब उसे आश्चर्यसे देखने लगे। उसने बीड़ा उठाकर मुखमें रक्खा और बिना किसी को बोलनेका अवसर दिये सभासे शीघ्रताके साथ चला गया।

(३)

'आप कहाँ जा रहे हैं ?' एक पथिकसे एक वृक्षके नीचे बैठे दूसरे व्यक्तिने पूछा जो वेष-भूषासे पथिक ही जान पड़ता था।

'पिण्डारोंके अड्डे पर।' बिना किसी संकोचके उसे उत्तर मिला। प्रश्नकर्त्ता को ऐसा उत्तर पानेकी तनिक भी आशा न थी। वह भौचक्का रह गया और घूमकर उस पथिकके मुखको देखने लगा।

'भाई, मैं भी यात्री हूँ। इधर वनमें भय है। इसलिये साथीकी प्रतीक्षामें बैठ गया था। आप मुझसे हँसी क्यों करते हैं ?' मैं पिण्डारा थोड़े ही हूँ।' चोरकी दाढ़ीमें तिनका, पथिकके उत्तरसे उस पूछनेवालेको जो सचमुच एक प्रधान ठग था, सन्देह हो गया कि यह मुझे पहचानकर व्यंग कर रहा है।

'मैं हँसी नहीं करता' गम्भीरतासे पथिकने कहा 'सचमुच ही मैं पिण्डारोंके अड्डे पर जाना चाहता हूँ, किन्तु अभी मेरे गन्तव्यका मुझे कुछ भी पता नहीं लग सका है। कितना अच्छा होता कि कोई पिण्डारा मुझे मिल जाता।'

'और तुम्हें ठिकाने लगाकर कपड़े-लत्ते लेकर चम्पत होता !' हँसकर ठगने बात पूरी की और ध्यानसे अपने शब्दोंके प्रभावको पथिकके मुखपर देखने लगा।

'ठिकाना लगाने या चम्पत होनेकी तो कोई बात नहीं' पथिककी गम्भीरता अखण्ड थी। 'मेरे पास आठ अशर्फियाँ हैं और ये वस्त्र, इन्हें मैं प्रसन्नतासे दे सकता हूँ। फिर कोई ब्राह्मण-को व्यर्थ क्यों मारेगा ?'

'देवता ! तब आपको पता होना चाहिये कि मैं ही यहाँके पिण्डारोंका सरदार हूँ।' उसने ब्राह्मणके मुखपर अपने नेत्र गड़ा दिये।

पथिक उल्लासित हो उठा 'जय शंकर भगवान्‌की! मुझे व्यर्थमें भटकना न होगा। आप चाहें तो ये अशर्फियाँ ले लें और कहें तो लँगोटी लगाकर सब कपड़े भी उतार दूँ। लेकिन आप इतनी कृपा और करें कि अपना अड्डा मुझे दिखा दें।' अशर्फियोंको ब्राह्मणने झोलेसे निकालकर ठगके आगे रख दिया।

'आप मेरे अड्डेपर क्यों जाना चाहते हैं?' सरदारने ब्राह्मणकी निःस्पृहता और प्रसन्नतासे कुतूहलमें पड़कर पूछा। उसने मुहरें उठा ली थीं और वस्त्र उतरवानेकी बात भूल चुका था।

ब्राह्मण एक क्षण रुका 'क्या यहाँ भी सत्य……………… निश्चय। जब सत्य बोलनेसे इतनी सफलता हुई है तो आगे झूठ नहीं बोलूँगा।' उसने स्पष्ट बतला दिया कि मैं रायपुर-राज्यका गुप्तचर होकर आया हूँ। उसने कहा 'मैंने अनेकों युक्तियाँ सोचीं, लेकिन महर्षि पतञ्जलिके सूत्रने सबको दबा दिया। मैंने निश्चय किया कि मैं झूठ नहीं बोलूँगा और अब तो प्रतिज्ञा करता हूँ कि जीवनमें कभी भी असत्यका आश्रय नहीं लूँगा।

ब्राह्मण युवकके मुखपर सात्त्विक दृढ़ता थी। ठगोंके सरदारका हृदय भी मनुष्यका ही हृदय था। वह उसकी ओर फिर सिर उठाकर देख नहीं सका। चुपचाप घूमकर उसने नेत्र पोंछे और ब्राह्मणको पीछे आनेका संकेत करके घनी झाड़ियोंके बीचमें घुसने लगा।

(४)

रायपुरके महाराजका दरबार लगा था। रुद्रदेव शर्मा पिण्डारोंके अड्डेका पता, वहाँका मार्ग, उनकी शक्ति प्रभृति सबका पता लगाकर आ गये थे। राजसभामें उन्होंने सब बातों-को सविस्तार सुनाया। केवल उन्होंने छोड़ दिया कुछ सोचकर या व्यर्थका विस्तार समझ अपने यात्राके वर्णनको।

'पिण्डारोंपर चढ़ाईका भार कौन लेगा?' महाराजने पूछा।

'लेकिन पिण्डारे तो परास्त हो चुके हैं। उनपर अब चढ़ाई होगी क्यों?' एक हट्टे-कट्टे पुरुषने प्रवेश करते हुए कहा। 'गुरुदेवकी सत्यताने पिण्डारोंको पूरी तरह परास्त कर दिया है और उनका सरदार अब उनका स्वेच्छाबन्दी है।' उस ब्राह्मणके चरणोंपर गिरकर वह फूट-फूटकर रोने लगा।

सब चकित थे और ब्राह्मण कर्तव्यविमूढ़! पूरा वृत्तान्त ज्ञात होनेपर महाराज सिंहासनसे उतर पड़े। उन्होंने ब्राह्मणके चरणोंमें मस्तक रक्खा और उस सरदारको उठाकर हृदयसे लगा लिया। रुद्रदेव शर्मा राजगुरु हो गये। एवं अभयसिंह पिण्डारा रायपुर-राज्यके मन्त्रित्वको सँभालनेके लिये विवश हुवा।

इतिहास अस्थिर होता है, लेकिन महत्कर्म उसे भी स्थायी बना ही जाते हैं। छत्तीसगढ़की जंगली जातियोंमें अब भी शपथ देते समय 'झूठ बोलूँ तो रुद्रकी सौगन्ध' कहनेकी प्रथा है। विश्वास किया जाता है कि रुद्रका नाम लेकर झूठ बोलने-वालेके घर या तो चोरी होती है या डाका पड़ता है। रुद्र वहाँ सत्यके प्रतीक हो चुके हैं।

अस्तेय

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ।

'गुरुदेव, कलसे भूखा हूँ !'
'तुम इसी योग्य हो कि भूखों मरो !'

बेचारे बालकके नेत्र भर आये। वह नहीं जान सका कि गुरुदेव उससे इतने असन्तुष्ट क्यों हैं। उसके शरीरपर एकमात्र कौपीन थी और इस शीतकालमें दो दिनसे उसके पेटमें एक दाना भी नहीं गया था। उसका अङ्ग-अङ्ग ठिठुरा जाता था। ऊपरसे यह फटकार। धीरे-धीरे वह सिसकने लगा।

'रामदास !' गुरुदेव द्रवित हुए और स्नेहसे पुचकारा 'मैं चार दिनके लिये बाहर गया और आश्रम खाली हो गया, सोचो—ऐसा क्यों हुआ ?' बालक सिसकता जाता था। आश्रममें ऐसा था ही क्या जो खाली हो गया ? गुरुदेव कुल आधसेर तो आटा छोड़ गये थे। उसीको उलटा-सीधा सेंककर बिना नमकके ही उसने दो दिन किसी प्रकार काम चलाया। उनके समय जिन भक्तोंकी भीड़ लगी रहती थी, उनकी अनुपस्थितिमें उनमेंसे कोई मुख दिखाने भी नहीं आया था।

'देखो, झोलेमें थोड़े फल हैं और कुछ मीठा भी। उन्हें निकाल लो !' गुरुदेवका इस आज्ञाका पालन नहीं हुआ। क्योंकि शिष्य इतना दुखी हो गया था कि उसे रोनेके अतिरिक्त कुछ भी नहीं सूझता था। वह रोता जाता था और हाथोंसे आँसू भी पोंछता जाता था।

'बेटा, रो मत ! झोला उठा तो ला !' चुपचाप उसने आज्ञाका पालन किया और फिर एक ओर खिसककर आँसू पोंछने लगा। गुरुदेवने बहुत-से फल निकाले और कुछ लड्डू भी। अञ्जलि भरकर उसे देने लगे। अब उससे रहा नहीं गया। वह उनके चरणोंमें मस्तक रखकर फूट पड़ा। घिग्घी बँध गयी।

गुरुदेवने उठाकर उसे गोदमें बैठा लिया। आँसू पोंछ दिया। कमण्डलुके जलसे स्वयं मुख धो दिया और स्वयं उसे फल छीलकर खिलाने लगे। 'बच्चे, तुम सदा बच्चे ही नहीं रहोगे ! अपनेको समझो और यह तुच्छ मोह दूर करो !' गुरुदेव यों ही कुछ कहते जाते थे। वे प्रायः ऐसी बातें करते थे, जो उनका बालशिष्य समझ नहीं पाता था।

बालकका दुःख कितनी देरका ? गुरुके स्नेहसे वह चुप हो गया। उनकी गोदसे उतरकर वह स्वयं उन फलोंसे क्षुधा शान्त करने लगा।

❀ ❀ ❀

(२)

'केवल चोरको अभाव होता है। जो चोरी नहीं करता उसके चरणोंमें विश्वकी समस्त सम्पत्ति लोटा करती है। जब किसीको फटे हाल और भूखों मरते देखो तो समझ लो कि वह चोर है। यदि कोई किसी प्रकारकी तनिक भी चोरी न करे तो उसे कभी भी आर्थिक कष्ट न होगा।'

एक छोटा-सा ब्राह्मण कुमार था। सुन्दर गौर एवं लंबे शरीरका। माता-पिता उसे बचपनमें छोड़ चुके थे। वह समीपके

प्रसिद्ध संत-सिद्ध महाराजके आश्रमपर आया। महाराज न तो किसीको शिष्य करते थे और न आश्रमपर रहने देते थे। लेकिन न जाने इस बालकमें उन्होंने क्या देखा अथवा बालकका प्रारब्ध समझिये, इसे उन्होंने अपना लिया। पुत्रकी भाँति वे इसका पालन करते और बालक पितासे कहीं अधिक उन्हें मनाता।

यों तो श्रद्धालु भक्तोंकी सदा ही आश्रमपर भीड़ लगी रहती थी; पर आज अभीतक कोई आया नहीं था। महाराज बाहरसे लौटे थे, इससे सम्भवतः भक्तोंको अभी पता नहीं लगा होगा। एकान्त पाकर वे अपने शिष्यको समझा रहे थे जो अपनी लंबी जटाओंको एक हाथसे सहलाता हुआ कौपीन लगाये उनके सामने बैठा उत्सुकतासे उनके वचनोंको सुन रहा था।

'देखो, संसारका यह नियम है कि तुम दूसरोंके जिस पदार्थको हानि पहुँचाओगे, तुम्हारा वही पदार्थ तुमसे छिन जायगा। यही भगवान्‌का न्याय है। जो दूसरेके लड़कोंको सताता या उनसे द्वेष करता है, उसे लड़के नहीं होते या होकर मर जाते हैं। जो दूसरोंके स्वास्थ्यको बिगाड़ता है, वह रोगी होता है। जो चोरी करता है, वह दरिद्र होता है। इसी प्रकार दूसरोंके ऊपर तुम जो चोट करते हो, वह दीवारपर मारी हुई गेंदकी भाँति तुम्हारे ही ऊपर लौट आती है।'

बालक अभी बालक ही था। उसकी बुद्धि इतने उपदेशों-को ग्रहण नहीं कर सकती थी। उसके स्वाभाविक चपलतासे बीचमें ही पूछा 'गुरुदेव! चोर तो धन चुराता है, फिर उसके पास खूब धन रहेगा। वह दरिद्र कैसे होगा?'

गुरुदेवने गम्भीरतासे शिष्यको देखा 'मैं पहले ही समझता था कि तेरा अधिकार अस्तेय-साधनासे ही प्रारम्भ करनेका

है। ठीक है, माता प्रकृति तुम्हे उत्सुक और उत्थित कर रही है।' फिर उन्होंने स्वाभाविक स्वरमें कहा 'इसे फिर समझाऊँगा! अभी तो मुझे आज सन्ध्याको पुनः एक यात्रा करनी है। तुम भी साथ चलनेको तैयार रहो!'

गुरुदेवके साथ यात्रामें चलनेका आदेश सुनकर बालक खिल उठा और वह झटपट उठकर उनका झोला ठीक करनेमें लग गया।

❀ ❀ ❀

(३)

'यहीं खड़े रहो और देखो!'

'इसी गंदी सँकरी गलीके पास तो खड़े रहनेको जी नहीं चाहता और इस अँधेरी रात्रिमें यहाँ देखनेको है भी क्या? कोई यहाँ खड़ा देखेगा तो जाने क्या समझेगा!'

'अभी यहाँ बहुत कुछ होनेवाला है। तुम शान्त होकर देखो! बोलना मत! आओ, इधर एक ओर छिपकर खड़े रहो!' एक अँधेरी गलीमें श्रावणकी तमसाच्छन्न रजनीमें एक साधु अपने शिष्यसे उपर्युक्त बातें कर रहे थे। आकाशमें बादल छाये थे और छोटी-छोटी बूँदें गिरने लगी थीं। दोनों एक कोनेमें छिप रहे।

गलीमें किसीके आनेकी आहट हुई। दो व्यक्तियोंकी अस्पष्ट फुसफुसाहट सुनायी पड़ी। गली दो अट्टालिकाओंका पिछवाड़ा था। उनमेंसे एक की खिड़की खुली थी। सर्रसे एक ध्वनि हुई और तनिक देरमें कोई काली बड़ी-सी वस्तु ऊपर जाती

दिखलाई दी। एक छोटा-सा खटका हुआ। वह काली वस्तु खिड़कीके भीतर चली गयी। खिड़कीसे आता धीमा प्रकाश बंद हो गया।

बड़ी देरतक गलीमें सन्नाटा रहा। साधुका बालक शिष्य अपने भीतरकी आकुलता दबाये चुपचाप खड़ा था। मनमें बहुत कुछ पूछनेकी उत्सुकता थी; किन्तु गुरुजी बार-बार हाथ दबाकर उसे शान्त रहनेका संकेत कर रहे थे।

ऊपरसे हल्की ताली बजी, नीचेसे भी किसीने वैसे ही संकेत किया। अबकी बार ऊपरसे क्रमशः दो काली-काली वस्तुएँ उतरीं। फिर सन्नाटा हो गया। साधु अपने शिष्यको लेकर गलीसे निकले और उसे चुप रहनेको कहकर एक ओर तीव्रतासे चल पड़े। बड़ी दूर नगरसे बाहर जाकर दो-तीन नाले पार करके एक झाड़ीके पास वे रुक गये। थोड़ी दूरपर एक बत्ती जलती थी। दो व्यक्ति बैठे थे, जो अभी-अभी कहींसे एक सन्दूक लाये थे! प्रकाशमें उनका मुख स्पष्ट दिखायी देता था। उन्होने बक्सके तालेको रेतीसे काटकर बक्स खोला। उसमेंसे सोनेके आभूषण और मुहरें निकालीं। बक्स इन्हींसे भरा था। इतना शिष्यको दिखलाकर गुरु उसे लेकर एक ओर चले।

ठीक एक सप्ताह बाद—दोपहरीमें साधु अपने शिष्यके साथ नगरमें घूम रहे थे। एक झोंपड़ीके बाहर दो भाई परस्पर झगड़ रहे थे। झगड़ा था पावभर सत्तूको लेकर। उनमें उस का बटवारा हो रहा था और प्रत्येक चाहता था अधिक भाग प्राप्त करना। उनके वस्त्र चिथड़े हो रहे थे। शरीर धूलसे भरा था। मुख देखनेसे पता लगता था कि सम्भवतः कई दिनपर इन्हें यह सत्तू प्राप्त हुआ है।

सत्तू सानकर बाँटना निश्चित हुआ। जल मिलाकर उन्होंने उसका पिण्ड बनाया। फिर बाँटनेके लिये झगड़ा हो ही रहा था कि पीछेसे कूदकर एक बन्दर उसे उठा ले गया। उनकी इस दीनता पर वह बालक साधु रो पड़ा।

'रामदास, इन्हें पहले पहचानो और तब रोओ!'

गुरुके वचनोंसे बालकको कुछ स्मरण हुआ। उसने ध्यान-से देखा 'ये तो उस रातवाले चोर हैं इनके वे गहने और मुहरें क्या हुईं ?'

साधु हँसे 'तू तो कहता था कि चोर धन चुराकर धनी हो जायगा।'

'गुरुदेव! पर इनका धन हो क्या गया ?'

इन्होंने आभूषण और मुहरें छिपानेके लिये उन्हें एक सेठके यहाँ रक्खा। उसे भी उसमें भाग देनेको कहा। उसे लोभ सवार हुआ। जब ये दुबारा माँगने गये तो देना दूर, उसने इन्हें पकड़वा देनेकी धमकी दी। विवश होकर लौट आये। इनसे सेठको भय था कि यहाँ रहेंगे तो बदला लेंगे। अतएव उसने अपने आदमियोंसे इनके घरके सब बर्तन, वस्त्र, पशु प्रभृति चोरी करवा दिये। इस प्रकार घरकी पूँजी भी खोकर अब ये दाने-दानेको तरस रहे हैं।

'गुरुदेव! इन्होंने तो चोरी की थी, तब भूखों मर रहे हैं। मैंने क्या अपराध किया जो दो दिन मुझे अन्न नहीं मिला और आपने कहा कि तुम इसी योग्य हो कि भूखों मरो!'

'चोरी केवल धनकी ही नहीं होती। जिस वस्तुमें दूसरों-

को भाग मिलना चाहिये, उसे छिपकर खा लेना, दूसरेकी वस्तुको बिना माँगे ले लेना आदि भी चोरी ही है। बेटा! बड़ी चोरीसे तो बहुत लोग बचते हैं, लेकिन इन छोटी चोरियोंसे ही बचना कठिन है। तुम्हें स्मरण है कि एक भक्त तुम्हें इलायची दे रहा था। तुमने उसके देनेपर तो अस्वीकार कर दिया और उसके हटनेपर दो इलायची चुपके-से उठा लीं। इसी चोरीके फलस्वरूप तुम्हें दो दिन अन्न नहीं मिला।'

शिष्यके नेत्र भर आये। गुरुके चरणोंमें मस्तक रखकर उसने फिर कभी कोई चोरी न करनेकी प्रतिज्ञा की।

❀ ❀ ❀

समर्थ रामदास जब किसीको शिष्यरूपमें स्वीकार करते थे तो किसी प्रकारकी कोई भी छोटी-से-छोटी चोरी न करनेकी प्रतिज्ञा कराते थे। उनके शिष्योंने इस प्रतिज्ञाका कितना पालन किया, सो पता नहीं। लेकिन सभी जानते हैं कि छत्रपति शिवाजीकी समस्त राज्यविभूति श्रीसमर्थके चरणोंमें लुण्ठित उन्हींकी प्रसादस्वरूप थी। यह समर्थकी अस्तेय-प्रतिष्ठाका प्रताप था।

अपरिग्रह

[अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासंबोधः]

समाचारपत्रोंमें कई बार ऐसे बच्चोंका वर्णन मैंने पढ़ा है, जो अपने पूर्वजन्मकी स्मृति रखते हैं। अपने पूर्वजन्म के माता पिता, घर प्रभृतिको पहचान भी लेते हैं। मेरे पड़ोसमें आज डिप्टी श्री रमाशंकर जी चतुर्वेदी आये हैं। मैंने इनकी कन्याके सम्बन्धमें पढ़ा था कि वह भी पूर्वजन्मकी स्मृति रखती है। मैंने अपने यहाँके साप्ताहिक पत्र 'निगम' की पुरानी प्रतियोंको उलटने-पुलटनेमें बहुत समय व्यतीत किया और अन्तमें वह प्रति प्राप्त कर ली जिसमें डिप्टीसाहबकी पुत्री कुमारी कलाके पूर्व जन्मकी स्मृतिका विवरण दिया गया था।

डिप्टी साहब फैजाबादसे बदलकर परसों मथुरा आये हैं और ठहरे हैं मेरे पड़ोसके बँगलेमें। बड़े सज्जन हैं। कल सन्ध्या समय स्वयं मेरे यहाँ टहलते आये और बड़ी देरतक इधर उधरकी बातें करते रहे। उनके जानेपर मुझे उनकी कन्याके सम्बन्धमें समाचारपत्रोंमें निकले समाचारका ध्यान आया।

कलकी भेंटने संकोचको दूर कर ही दिया था, मैं स्वयं डिप्टी साहबके यहाँ पहुँचा। बंगलेके सामने घासपर कुर्सी डाले वे बैठे थे। मुझे देखते ही हाथ जोड़कर उठ खड़े हुए। 'नमस्कार डाक्टर बाबू!' मैंने उनके अभिवादनका उत्तर दिया और उनके पास ही नौकर द्वारा लायी हुई कुर्सी पर बैठ गया।

'आपसे कुछ जानने आया हूँ।'

'कहिये क्या ?'

उनके आग्रहके उत्तरमें मैंने 'निगम' की प्रति खोलकर उनके हाथमें दे दी और उस समाचारकी ओर संकेत कर दिया।

'यह प्रति कबकी है ?' उन्होंने समाचारका शीर्षक मात्र देखकर फिर अपने प्रश्नके साथ कवर-पृष्ठ देखा और तब हँसकर बोले—'आप इतना पुराना समाचार कहाँसे ढूँढ़ लाये हैं ? यह तो दो वर्षकी पुरानी प्रति है और अब तो कला सब भूल-भाल गयी है।' उन्होंने पत्र मुझे लौटा दिया।

'क्या बच्चीको बुला देंगे !' उनकी उदासी मुझे अखरी। मैंने अपनी उत्सुकताको बिना दबाये हुए आग्रह किया।

'क्यों नहीं' उन्होंने लड़कीको पुकारा और 'आयी पिताजी !' कहनेके एक मिनट बाद ही दस वर्षकी एक भोली बालिका उनके पास आ गयी।

'यही है' डिप्टी साहबने उसे मेरे सामने कर दिया हाथ पकड़कर। लड़कीने मुझे प्रणाम किया। मैंने उसे पास बुला लिया। वह सङ्कोचसे सिकुड़ी जाती थी।

'बच्ची, तुम्हारा नाम क्या है ?' इस प्रकार परिचय बढ़ानेके लिये मैंने उससे कई प्रश्न किये। उसने सबका उत्तर दिया। प्रश्नोंके ही क्रममें मैंने पूछा 'तुम बता सकती हो कि इससे पहले तुम्हारा जन्म कहाँ हुआ था ?' लड़की चुप हो गई। कई बार पुचकारकर मैंने और डिप्टी साहबने पूछा, तब कहीं उसने कहा 'काशीमें'।

काशीमें किसके घर ?' लड़कीको और कुछ भी स्मरण नहीं था। वह आगे कुछ भी बता नहीं सकी।

डिप्टी साहब-जैसे सम्पन्न, सरल और धार्मिक व्यक्ति भला समाचार पत्रोंमें क्यों झूठा आडम्बर करेंगे ? अतः उस साप्ताहिक पत्रके विवरणको डिप्टीसाहबके स्वीकार कर लेनेके पश्चात् सन्दिग्ध समझनेका कोई कारण नहीं था। यह एक समस्या अवश्य थी कि बच्चे बड़े होकर उस पूर्वजन्मकी स्मृतिको क्यों विस्मृत हो जाते हैं ? डिप्टी साहबके पास भी इसका कोई समाधान नहीं था।

(२)

जाड़ेके दिन थे और सन्ध्याका समय। मैं डिप्टी रमाशंकर चतुर्वेदीके साथ टहलने निकला था। बँगलेसे थोड़ी दूर आगे चलकर हम दोनोंने पक्की सड़क छोड़ दी और पगडण्डीसे एक तालाबकी ओर चले।

तालाब कभी अच्छा रहा होगा; किन्तु आज तो वह नामके लिये ही तालाब है। उसमें शरद् ऋतुमें भी जल नहीं रहता। गहराई भी उसकी अब कमर भर रह गयी है उसके आस-पास कुछ कदम्बके वृक्ष हैं। चारों कोनोंपर टूटी हुई बुर्जें हैं और घाट अब भी बैठने योग्य हैं। एकान्त होनेके कारण हम सब कभी-कभी यहाँ आकर थोड़ी देर बैठते हैं।

व्रजमें साधु तो आते ही रहते हैं। उनमें हमारा कोई विशेष आकर्षण नहीं। फिर भी इस नितान्त एकान्तमें घाटकी एक शिलापर इतनी सर्दीमें भी केवल कौपीन लगाये मजेसे आधे लेटे, दुबले-पतले, साँवले रंगके साधुने हमारा ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लिया। हमें अपनी ओर आते देखकर वह बैठ गये। हम दोनोंने अभिवादन किया और उनके समीप ही एक शिलापर हमें भी बैठनेका संकेत हुआ।

साधुके समीप परमार्थ चर्चा तो चलेगी ही। प्रसङ्गवश पुनर्जन्मकी चर्चा आ गयी। महात्माजीने बतलाया कि वे पिछले जन्ममें अयोध्याके समीप सरयू किनारे एक मन्दिरके पुजारी थे। वहाँ कुछ अपराध हो गया और उसी के कारण उन्हें पुनः इस शरीरको धारण करना पड़ा।

मैं विस्तारमें जाना नहीं चाहता। महात्माजीसे उनके पूर्वजन्मके सम्बन्धमें हम दोनोंने बहुत कुछ पूछा और उन्होंने भी बहुत कुछ बताया। अन्तमें मैंने पूछा—शरीर त्यागके पश्चात् और इस शरीरको धारणके पूर्व मध्यमें क्या-क्या हुआ?' महात्माजी पहलेहीसे कुछ उकताहट दिखला रहे थे। अँधेरा भी हो रहा था। उन्होंने कहा—'प्रश्न पर्याप्त गम्भीर और महत्त्वका है, मुझे अभी नित्यकर्मसे निवृत्त होना है।' डिप्टीसाहब भी अँधेरेके कारण लौटनेको उत्सुक थे। उन्होंने बीचमें ही कहा—'इसे कलपर रहने दीजिये!' इच्छा न होनेपर भी उन लोगोंका रुख देखकर मुझे अनुमोदन करना पड़ा। हम दोनों वहाँसे लौट आये। बहुत आग्रह करनेपर भी महात्माजीने न तो बस्तीमें चलना स्वीकार किया और न कुछ ग्रहण करना ही।

दूसरे दिन महात्माजीको अपने घर भिक्षा करानेको निमन्त्रित कर आया था। लगभग दस बजे नौकरको भेजा तो वहाँ उनका कोई पता नहीं लगा। सोचा 'साधु ठहरे, कहीं टहल गये होंगे।' एक-दो बार नौकर भेजा और सन्ध्याको डिप्टीसाहब-को साथ वहीं घूमने गया। साधु होते हैं रमते राम। वे एक स्थानसे खिसके तो फिर भला कौन उनका पता पाता है।

(३)

कालिन्दीके किनारे एक झोपड़ी पड़ी थी। मैं अकेले टह-

लते उधारसे निकला तो एक बार उसमें झाँककर देखनेकी इच्छा हुई। 'यह क्या ? यह तो वही पूर्वपरिचित महात्माजी हैं ?' महात्माजी रुग्ण दिखायी देते थे। थोड़ा पुआल पड़ा था और उसीपर एक कम्बलमें लिपटे वे पड़े थे। पास में दो तूँबियाँ रक्खी थीं और सम्भवतः एक कपड़ेका छोटा टुकड़ा भी।

मेरी आहट पाकर उन्होंने मुख खोला। अभिवादन करके मैं पास ही बैठ गया। उन्होंने देखते ही मुझे पहचान लिया। शरीरके सम्बन्धमें पूछनेपर ज्ञात हुआ कि इधर कुछ दिनोंसे आँवके दस्त होते थे, फिर ज्वार हो गया। ज्वर छूट गया है; लेकिन आँव अभी गया नहीं। यह झोंपड़ी पासके ग्रामवालोंने उनके लिये बना दी है।

मैंने जैसा अनुमान किया था, महात्माजी उतने दुर्बल थे नहीं। वे उठकर बैठ गये और सत्सङ्ग होने लगा। मैंने वही पुराना प्रश्न दुहराया कि शरीर त्यागके पश्चात क्या होता है ? लेकिन मुझे निराश होना पड़ा। उन्होंने कहा 'भैया; उसी दिन बता देता तो बता देता। वहाँ मच्छरोंने बहुत तंग किया। उठकर यमुनाजीकी ओर आ गया। बड़ी भली चाँदनी थी। चलनेमें आनन्द प्रतीत होता था पैर बढ़ते गये और दूर निकल गया। जाकर भला कहाँ लौटा जाता है। तब तो यह बाधा हुई और अब वह सब बातें विस्मृत हो गयीं। तुम लोगोंसे मैंने क्या-क्या बतलाया, यह भी स्मरण नहीं।

मुझे डिप्टी साहबकी लड़कीके विस्मरणका ध्यान हुआ। मैंने पूछा 'आपको यह पूर्वजन्मकी स्मृति जन्मसे थी ?'

'नहीं' महात्माजीने स्वभावके अनुसार समझाना प्रारम्भ किया—'पूर्वजन्मकी स्मृति तो संस्कारों से होती है। संस्करा सबके भीतर हैं; पर बाहरी वस्तुओंके संग्रहसे मन जब उनमें आसक्त

हो जाता है, तब वह अन्तर्मुख होकर भीतरके संस्कारोंको ग्रहण नहीं कर पाता। मैंने जबसे बाहरी वस्तुओंका सचमुच संग्रह छोड़ा था, तभीसे मुझे पूर्वजन्मकी स्मृति हुई थी और जब मैंने उनका संग्रह किया तो वह स्मृति क्षीण हो गयी।'

आपके पास तो अब भी कोई संग्रह नहीं! मैंने पूछा।

'संग्रह केवल पदार्थोंका थोड़े ही होता है। पदार्थ भला कैसे छोड़े जावेंगे? नगरमें रहोगे तो मकान रहेंगे। यहाँ भी ईंट, पत्थर, पेड़, पशु बहुत हैं इनसे भागकर कोई कहाँ जायगा? संग्रह छोड़ना है इनमें आसक्तिका। इनकी अपेक्षा करना ही संग्रह है। शरीर रुग्ण होनेके कारण कम्बल, तुम्बी आदि अपेक्षित हैं। इनके बिना कष्ट होगा। इनमें कुछ आसक्ति भी हो ही गयी है यही आसक्ति इनका संग्रह हो गयी। अन्यथा राजा भी अपरिग्रही हो सकता है।'

'तब तो अपरिग्रहका अर्थ हुआ अनासक्ति।' मैंने जिज्ञासा की।

'थोड़ा अन्तर है' महात्माजीने बतलाया 'अपरिग्रह धनका होता है और अनासक्ति धन-जन दोनोंमें।'

'ये बालक जो पूर्वजन्मकी स्मृतिवाले कहीं-कहीं पाये जाते हैं, वे तो अपरिग्रही नहीं।

'पूर्वजन्ममें मृत्युसे पूर्व रोगके कारण या किसी भी कारणसे धन (पदार्थ-पशु प्रभृति) से आसक्ति दूर हो जानेपर ही उन्हें इस जन्ममें पूर्वजन्मकी स्मृति होती है और परिग्रह होते ही वह क्षीण हो जाती है।'

आज जाकर मैं उस लड़कीके पूर्वजन्मकी बातोंके विस्मरण-रहस्यको जान सका।

ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः

पयस्विनीके पावन तटपर एक शिलापर बैठा मैं बार-बार अपनी पुस्तकको खोलता और उपयुक्त सूत्रको पढ़कर फिर बन्द कर देता। मेरे सिरपर एक पारिजातका वृक्ष झूम रहा था। वायुके कोमल शीतल स्पर्शसे प्रसन्न होकर वह अपनी सुरभित निधि बार-बार मेरे ऊपर उँड़ेलता जाता था और मैं उसकी इस सुमन-वृष्टिको आदरसे स्वीकार करके कभी-कभी एकत्र भी कर लेता था—चरणोंके नीचे कलकल करती भागती जाती पयस्विनीकी लोल लहररूपी बालिकाओंको खेलनेके लिये अञ्जलि भरकर पुनः पुनः प्रदान करने एवं उस क्रीड़ासे नेत्रोंको तृप्त करनेके लिये।

उस पार थी सघन वनावली और उसके दक्षिण कक्षमें भवनोंके शिखर दृष्टि पड़ते थे। अपने पीछेकी छोटी झाड़ीके पार खेतोंकी श्रेणीको मैं भूल गया था। इस समय तो यात्रामें साथ लाये योगदर्शनसे उलझा बैठा था और बीच-बीचमें स्वभावतः हाथ सुमनोंको एकत्र करके जलमें डालते भी जा रहे थे। यह क्रीड़ा थी, अर्चन नहीं।

मैं सोच रहा था—एक बच्चा भी जानता है कि यदि पैसा खर्च न किया जाय तो बचेगा। यदि भोजन न करें तो अन्न बच रहेगा। इसी प्रकार ब्रह्मचर्यपालनसे वीर्यलाभ तो स्वाभाविक है। इसे कोई मूर्ख भी सरलतासे जान सकता है या जानता ही है। फिर महर्षि पतञ्जलिने यह सूत्र क्यों बनाया? स्वभाव-

का विधान तो कोई अर्थ नहीं रखता। जैसे दूसरे यम-नियमोंका उन्होंने महत्त्व बतलाया है, वैसे ही इसका भी क्यों नहीं बताया ? वीर्यलाभ तो कोई विशेष बात हुई नहीं। ब्रह्मचर्य कोई उपेक्षणीय विषय है भी नहीं। तब ऐसा क्यों हुआ ?

मैं ठहरा ज्ञानलवदुर्विदग्ध, अतः संसारमें अपनेको सबसे बड़ा समझदार माननेवाला मेरे मस्तिष्क गतिशील हुआ—महर्षि भी तो मनुष्य ही थे, मनुष्यसे भूल होती ही है। यहाँ उन्होंने भूल की है। तब यहाँ ठीक क्या होगा ? ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठासे बल मिलता है।

नहीं—मेरे पासके ग्राममें सुखरामसिंह कितने प्रसिद्ध पहलवान हैं; किन्तु वे ब्रह्मचारी तो हैं नहीं। उनके स्त्री है, कई बच्चे हैं। उनके अखाड़े में जानेवाले कई एकको तो मैं जानता ही हूँ। उनमें जैसी गंदी बातें होती रहती हैं, उससे कोई सभ्य पुरुष उनके पास बैठना भी पसंद नहीं करेगा। अतः ब्रह्मचर्यसे बल होता है, यह तो ठीक नहीं। तब ? ब्रह्मचर्य से शरीर मोटा होता है ? यह तो उपहासास्पद है। थुलथुल मोटे क्या ब्रह्चारी हैं सभी ? ब्रह्मचर्यसे तेज होता है। बात कुछ ठीक लगी।

ऐं ! तेज या चमक तो अग्निका गुण है। पित्तप्रकृतिवालों-मुखपर चमक हो सकती है। मेरे ग्रामके जमींदारका ललाट कितना चमकता है; लेकिन आचरणके सम्बन्धमें तो उनका पर्याप्त अयश है। स्मरण आया—प्राकृतिक चिकित्साके आचार्यों-का मत है कि ललाटपर मेदकी मुटाई या चमक रोगका चिह्न है। वह सूचित करता है कि उदरका विजातीय द्रव्य मस्तकतक पहुँच चुका है।

बल, शरीरकी गठन एवं दृढ़ता, मोटापन तेज, स्फूर्ति—

ये सब ब्रह्मचर्यके प्रधान लक्षण नहीं हैं। ये ब्रह्मचर्यसे प्राप्त नहीं होते, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इनकी पूर्णता अवश्य ब्रह्मचर्यसे ही होती है। फिर भी इनकी उपलब्धि ब्रह्मचर्यके बिना सम्भव है। बल एवं शरीरगठन मांसपेशियोंसे होता है। पुष्टिकर भोजन और व्यायामसे ये प्राप्य हैं। मोटापन स्निग्ध पदार्थोंकी भोजनमें अधिकता या किसी भी कारणसे शरीरमें मेदकी वृद्धिसे होता है। पित्तकी भालपर पहुँच तेजका कारण है और यह रोग-का पूर्वरूप भी हो सकता है। स्फूर्ति आती है अभ्याससे। सैनिकों-में और चोरडाकुओंमें वह पर्याप्त होती है।

तब क्या पाश्चात्य लोगोंकी सम्मति ही ठीक है? ब्रह्मचर्य व्यर्थकी कल्पना है, उससे कुछ बनता बिगड़ता नहीं; 'ब्रह्मचर्यसे वीर्यलाभ'—यह तो कोई लाभ नहीं हुआ। वीर्यलाभ न भी हो तो क्या हानि? उसके अतिरिक्त भी तो उपाय हैं जो सबल, सशक्त, सतेज रखते हैं। क्यों उसीपर बल दिया जाय?

ब्रह्मचर्य जिसका शास्त्रोंमें इतना महत्त्व है, जो भारतीय संस्कृतिके धार्मिक एवं सामाजिक जीवनकी रीढ़ है, वही व्यर्थ? हृदय इसे स्वीकार करनेको तनिक भी प्रस्तुत नहीं हो रहा था। मैं चला था समस्याको सुलझाने, वह दुगुनी उलझ गयी। अनेक प्रकारके तर्क उठने लगे। साँड़ ब्रह्मचारी नहीं होता—पर वह बैलोंसे सुदृढ़ होता है। बैल यदि बधिया न हों और संयत रहें? साँड़ अल्पायु भी तो होता है! मैं इन तर्कोंके जालमें उलझकर श्रान्त हो गया और पता नहीं कि कब मुझे उस शीतल मन्द समीरकी कोमल थपकियोंने उसी शिलापर पारिजातकी सुरभित गोदमें सुला दिया।

❀ ❀ ❀

[२]

'दुबला-पतला शरीर, कमरमें कौपीन और सिरपर जटा, ये ब्रह्मचारी हैं ! सो भी आजन्म ब्रह्मचारी !' मुझे तो विश्वास नहीं होता था। 'चर्म-अस्थियोंसे चिपटा और मुखपर भी कोई विशेषता नहीं। इन्हें कौन ब्रह्मचारी कहेगा ?' उन्होंने संकेत किया और मैं उनके पीछे चलने लगा।

पता नहीं क्या हुआ, वे उपवास करने लगे और उनके साथ मैं भी। एक दिन गया, दो दिन गया और तीसरा दिन भी बीत गया। हमलोग कहीं जङ्गलमें थे, जहां यमुनाजी भी थीं। एक मिट्टीका घड़ा था। उसे कोई भरता नहीं था। फिर भी जब मैं उसमेंसे पानी उँड़ेलता तो वह भरा ही मिलता। वही यमुना-जल मात्र हम दोनों पीते थे।

पेटमें चूहोंने डंड लगाना छोड़कर चौकड़ियाँ भरना प्रारम्भ कर दिया। भूखके मारे मेरी दुर्दशा होती जा रही थी। प्यास न लगनेपर भी भूख मिटनेके लिये बार-बार जल पीता था। दिनभर पड़ा रहता था चटाईपर ! पानी लेनेको भी उठना भारी प्रतीत होता था। सिरमें चक्कर आने लगता था।

मेरी तो यह दशा थी और वे ब्रह्मचारी ? उनकी कुछ मत पूछिये। पता नहीं वे पत्थरके बने थे या लोहेके। स्नान करने यमुनाजी जाते तो दौड़कर, फिर जलमें भली प्रकार तैराई करते। जाने कहाँ-कहाँसे पुष्प एकत्र करके अपने नन्हे ठाकुरको सजाते। पूजा-पाठसे छुट्टी पाकर इधर-उधर फुदकते फिरते। भागवतका पाठ करते। कुछ न होता तो मेरी दुर्बलतापर खिलखिलाकर हँसते और मेरी हँसी उड़ाते। जैसे उन्हें कभी भूख लगती ही नहीं।

'आपको भूख नहीं लगती क्या?'

'लगती क्यों नहीं?'

'भूख लगती तो ऐसे फुदकते फिरते!'

वे हँस पड़े 'ब्रह्मचारीके वीर्यमें भी तो कुछ शक्ति होती है। जो तनिकसे कष्टसे व्याकुल हो जाय, वह कैसा ब्रह्मचारी?'

'ओह!.........' मैं कुछ और कहनेवाला था, इतनेमें हमारे झोपड़ेके द्वारमें एक नृसिंहदेवके लघुभ्राता व्याघ्र देवने अपना श्रीमुख दिखलाया।

कुछ न पूछिये—मेरा हृदय उछलने लगा। रक्त शीतल होने लगा। उस अशक्तिमें भी मैं उठा और उछलकर कोनेमें जा रहा।

'आइये भगवन्!' ब्रह्मचारीजी हँसकर बोले 'आप भी यमुना-जल पीकर हमारे संग उपवास कीजिये!'

उन्हें भय भी नहीं लगता था। बाघने मुख फाड़ा और मैं चीख पड़ा। ब्रह्मचारीने एकबार मेरी ओर देखा। मुझे हाथ-पैर पेटमें किये दीवारमें प्रविष्ट होनेका व्यर्थ प्रयत्न करते देख वे फिर जोरसे हँसे।

'हमारे मित्र आपसे डर रहे हैं, उन्हें कष्ट है; अतः आपका लौट जाना अच्छा है।' गम्भीर होकर उन्होंने व्याघ्रपर दृष्टि डाली। उसके दोनों पैर भीतर आ गये थे और वह मुझे घूरने लगा था।

'उधर नहीं, पीछे!' और तब एक क्षण रुककर ब्रह्मचारीने

उस वनराजके मस्तकपर एक चपत जड़ दी।' 'लौटता है या नहीं ?' उन्होंने अपनी खड़ाऊँ उठायी। जैसे वह कोई चूहा हो, जो खड़ाऊँसे ठीक किया जा सके।

आप हँसेंगे, मुझे भी अब हँसी आती है, लेकिन उस समय मेरी दूसरी ही दशा थी। उस खड़ाऊँसे भी आशा जा अटकती थी। 'डूबतेको तिनकेका सहारा' बाघने एक बार एकटक ब्रह्मचारी को एक क्षण देखा और फिर पीछे मुड़ा। उसने मुड़ते ही छलाँग भरी, साथ ही कठोर गर्जना की।

मैं चौंक पड़ा। उस गर्जनाका भय अब भी हृदयको धड़का रहा था। श्वासका वेग बढ़ गया था। कुशल यही थी कि मैं पयस्विनीके तीरपर उसी शिलापर था। मेरे ऊपर हरश्रृङ्गारके पुष्प पड़े थे।

झटपट उठकर बैठ गया। पुस्तक अब भी शिलापर एक ओर खुली पड़ी थी। मैंने उसे उठाया। सर्वप्रथम उसी सूत्रपर दृष्टि पड़ी, जिसपर विचार करते-करते मैं सो गया था।

अभय, धैर्य, साहस, ओज, मनोबल—ये सब वीर्यके अन्तर्गत आ जाते हैं। मुझे यह समझनेकी आवश्यकता रह नहीं गयी थी। ब्रह्मचारी तितिक्षु, धीर, निर्भय, स्वभावप्रसन्न एवं अन्तर्मुख होता है; क्योंकि वह वीर्यशाली होता है। उसे वीर्यकी प्राप्ति होती है।

मेरा हृदय उत्फुल्ल था और श्रद्धासे मेरा मस्तक उसी ग्रन्थपर झुका हुआ।

शौच

(शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः)

वह विचारक था। सम्भव नहीं था कि वह दूसरोंकी देखा-देखी एक छकड़ा सामान यों ही लादे-लादे फिरता। वैसे वह श्रद्धालु था; और जिस दिनसे उसने रामानुज सम्प्रदाय की दीक्षा ली, आचारसम्बन्धी प्रत्येक नियमका उसने अक्षरशः पालन किया। बिना कोई अपवाद निकाले बिना कोई बहाना बनाये, वह नियमोंको बड़ी कठोरतासे निभाता था। दूसरे लोगों-के लिये वह आदर्श हो गया। फिर भी यह केवल कर्म-भार वह कबतक ढोता। वह विचारक था।

रमाकान्तने सोचना प्रारम्भ किया—'दूसरोंकी दृष्टिमात्र-से मेरा भोजन अपवित्र हो जाता है। मेरे पात्र दूसरोंके स्पर्शके पश्चात् फिर अग्निसे भी शुद्ध नहीं होते। मेरे आसनपर कोई हाथ भी रख दे तो वह मेरे कामका नहीं। अन्ततः यह सब क्यों? क्या श्रीमन्नारायणकी पूजा के निमित्त? लेकिन प्रभु तो प्रेमाधीन हैं। वे तो शूद्रोंपर भी प्रसन्न होते ही हैं। अविधि और विधि वहाँ केवल सच्ची प्रपत्ति है। तब क्या मैं दूसरोंसे अधिक पवित्र हूँ? लोग ऐसा कहते तो हैं; फिर भी क्या यह सत्य है?'

'दूसरोंसे मैं अधिक श्रेष्ठ हूँ' यह अहङ्कार ही तो गहन जाल है। रमाकान्त तन्मय था विचारोंमें, 'मेरे मनमें काम-क्रोधादि भरे हैं। मैं ही जानता हूँ कि मेरा मना कितना अशुद्ध है। रहा शरीर—हे भगवान्! हड्डी, मज्जा, मेद, मांस, रक्त,

कफ, पित्त, थूक, मूत्र, चर्म, केश प्रभृतिसे बना यह शरीर! इनमें-से कोई भी छू जाय तो मुझे स्नान करना पड़ता है और मैं इन्हीं-को ढो रहा हूँ।'

शास्त्र और गुरुकी आज्ञा समझकर उसने नियमों को शिथिल नहीं किया, पर अब उसे शरीर से घृणा हो गयी। 'मैं शुद्धाचारी और पवित्र हूँ' यह धारणा जाने कहाँ लुप्त हो गयी। जब वह शौचके पश्चात् हाथमें मिट्टी लगाता 'उफ' यह रक्त और हड्डी क्या मलनेसे पवित्र होगी?' भोजन बनाते समय जब पर्दा लगाकर वह भीतर बैठता 'छिः! यह मांसका लोथड़ा तो चौकेमें ही है।' जब भोजन करने लगता 'यह चर्म और नख मुखमें डाला जा रहा है! मुखमें ही क्या है? लार, अस्थि, चर्म!! भगवान्‌का प्रसाद समझकर भोजन कर लेता।'

शरीरसे उसे घृणा हो गई। जिस शरीरके साजशृङ्गारमें हम सब मरे जाते हैं, जिसे पुष्ट, निरोग एवं निरापद रखनेके लिये जमीन-आसमान एक किया जाता है, उसे वह फूटी आँखों देखना नहीं चाहता था। विवश था उसे धारण करनेके लिये। आत्म-हत्या पाप जो है। 'ओह, यही महा अशुद्ध और मलपूर्ण शरीर फिर धारण करना पड़ेगा?' वह फूट-फूट कर रोने लगता था यह सोचकर ही। उसे इसी जीवनमें शरीर रखना पल-पल भारी हो रहा था।

[२]

माता-पिताका आग्रह था और रमाकान्त जैसा श्रद्धालु उनकी आज्ञा टाल नहीं सकता था। विवाह हो गया और पत्नी घर आई। व्यर्थ! भला, वह नितान्त एकान्तप्रिय कहीं सन्तानोत्पादन कर सकता है।

'माताके उदरमें नौ महीने निवास—एक ओर मल, एक ओर मूत्र, कहीं पीब और कहीं रक्त। उस मांसकी थैलीमें रहना और फिर रक्तमें लथपथ निकलना ; एक जीवको मेरे कारण यह सब कष्ट—छिः !' वह इसकी कल्पनासे काँप जाता था। यों काम उसमें भी था, पर स्त्रीको देखते ही उसे दीखता था मांस, रक्त, अस्थि। वासना हवा हो जाती और घृणासे वह दूर भागता। जिसे अपने ही शरीरसे घृणा हो, वह दूसरेके शरीरको भला कैसे छू सकता है।

वह रोगी नहीं था और न कभी रोगने उसे दर्शन ही दिया। रोग तो होते हैं असंयमसे। जो भोजनमें रुचि न रखता हो, 'इसका बनेगा क्या ?' यह सोचकर भोज्य पदार्थोंसे घृणा करता हो, केवल प्रसाद समझकर, कुछ भगवान्‌को भोग लगाकर पेटमें डालता हो,—वह भी शुद्ध सात्त्विक, नपा-तुला, बालकी खाल निकाल-निकालकर जिसकी अशुद्धि दूर की गई हो, ऐसे भोजनको ग्रहण करनेवालेके समीप रोगके आनेका मार्ग ही क्या है।

उसका काम क्या था ? दिनभर अपनी पवित्रताके खटरागमें और अपने लक्ष्मीनारायणकी पूजामें लगे रहना। दूसरोंका प्रभाव तो तब पड़े, जब दूसरे पास जा सकें। दूसरोंकी वस्तुएँ भी तो बत्तीस बार धोकर प्रयोगमें आती थीं। अन्न-दोष, संग-दोष, स्थान-दोष, क्रिया-दोष-इनमेंसे किसीके फटकनेको स्थान ही न था। ऐसी स्थितिमें मनीरामका कल्याण प्रसन्न ही रहनेमें था। वे भी डरते थे कि कहीं अप्रसन्न हुए और इन्होंने अपवित्र समझकर हमें भी थाली की भाँति रगड़-रगड़कर धोना प्रारम्भ किया तो पानीमें ही खोपड़ी सफाचट हो जायगी।

रूप-हड्डी, मांस, अस्थि आदि हैं—नेत्र बेचारे जहाँ जाते, वहीं घृणा और फटकार पड़ती। शब्द-कोई मांसका लोथड़ा पास है-कर्णका आनन्द मिट्टी हो जाता इस भावके आते ही। स्पर्श-राम! राम!! चमड़ा छुयेगा, अरे ये फूल बने हैं मलकी खाद खाकर—सब गुड़ गोबर हो उठता त्वक्‌का। रस-क्या? इनका परिणाम है मल और मूत्र, और तब ये उससे भिन्न हैं? रसना बेचारी क्या करे। वमन करनेको जी चाहता था।

गन्ध—नासिकाका सब मजा किरकिरा हो जाता जब उसे बुद्धि खरी-खरी सुनाती कि ये सब गन्धें केवल मल-मूत्रसे पुष्ट हुई हैं या सड़कर नाबदान-जैसी गन्ध देती हैं। ज्ञानेन्द्रियों-की तो यह दशा थी और कर्मेन्द्रियोंको धोने, इधरसे उधर करने, उठाने-रखनेसे अवकाश ही नहीं था। वे करें तो क्या? तनिक किसी कार्यमें विलम्ब होनेपर सबमें देर होने लगती। मनीराम फटकारने लगते। क्योंकि रमाकान्तजी तो सब कार्य तिल-तिल पूरा करेंगे। और फलतः मनीरामजीका रात्रि-विश्राम मारा जायेगा। इसलिये इन्द्रियोंके तनिक भी प्रमाद करनेपर वे लाल-पीले होने लगते। वे बेचारी वसमें न रहें तो जायें कहाँ?

[३]

'ओह, फिर स्नान करना होगा! सो भी इस शीतकालमें। लोग इतना भी ध्यान नहीं रखते कि जूतेको मार्गसे तनिक दूर उतारा करें।' रमाकान्त स्नान करके आ रहे थे। द्वारके समीप ही किसीने जूता उतार दिया था। वह पैरको लग गया। उन्हें तनिक खेद हुआ। सर्दीके मारे हाथ-पैर अकड़े जा रहे थे। 'प्रमाद तो मेरा ही है, मुझे देखकर चलना चाहिये।' वे वहाँसे चल पड़े, और पुनः स्नान करके आये। पूजा जो अभी शेष थी।

पूजा समाप्त हुई। प्रसाद अपने हाथ ही प्रस्तुत करना था। पात्रमें चूल्हेपर चावल सिद्ध होने लगा और रमाकान्तजी पास बैठे अपनी विचारधारामें तल्लीन हो गये। 'यह शरीर· इसका निर्माण ही समस्त अपवित्र वस्तुओंसे हुआ है और इसे पवित्र करनेके लिये इतना प्रयास! क्या यह कभी शुद्ध हो सकता है? तब यह प्रयास क्यों होता है?'

जूतेके स्पर्शका स्मरण हो आया—'चमड़ेका जूता और उसके स्पर्शसे शरीर अपवित्र हो गया! क्यों? शरीर क्या उससे भी गंदे चमड़ेसे नहीं बना है? तब यह पवित्रता किसके लिये है? शरीरका क्या पवित्र और क्या अपवित्र होना। यह सब है आत्मशुद्धिके निमित्त। लेकिन यह आत्मा है क्या! जिसकी शुद्धिके लिये रात-दिन एक करना पड़ता है, वह आत्मा शरीरके भीतर ही तो है!'

जैसे विद्युत् छू गयी हो—जरा-से मृतकचर्मके स्पर्शसे तो यह शरीर अपवित्र हो गया और जो आत्मा शरीरके भीतर इस मज्जा-मांसमें ही रहता है, वह कैसे शुद्ध होगा?' हृदयपर एक कठोर ठेस लगी। वे गम्भीर चिन्तामें तल्लीन हो गये। इतने तल्लीन कि चावल जलकर भस्म हो गया, पर उन्हें कुछ पता नहीं।

रमाकान्तजी विशेष पढ़े-लिखे नहीं थे। थोड़ी हिंदी और काम चलानेभरको संस्कृत जानते थे। उसीसे विशिष्टाद्वैत सम्प्रदायके कुछ ग्रंथ पढ़ लेते थे। वैसे उन्हें पढ़नेका अवकाश भी कहाँ था। अपनी ही पद्धतिसे वे सोच रहे थे 'यदि आत्मा शरीर में ही रहता है तो कहाँ रहता है? उसका स्थान हृदय बतलाया गया है। तब क्या रक्तपूर्ण हृदयमें वह रक्तसे लथपथ है?

उन्होंने हृदयमें मनको एकाग्र किया। इन्द्रियोंको थोड़ी शान्ति मिली इस बराबर धोने-माँजनेकी खटपटसे। मनीराममें इतनी शक्ति ही न थी जो इधर-उधर कर सकें। उन्हें तो आज्ञा-पालन करना था। क्योंकि बराबरकी स्वच्छताने उन्हें भी झाड़-पोंछकर स्वच्छ कर दिया था। बाहरी शुद्धि मन शुद्ध करनेमें हेतु होती ही है। और मन शुद्ध होनेपर इस प्रकार अपने ही अंगोंमें अपवित्रताका बोध होना स्वाभाविक है!

'हृदय है—छिः यह भी मांसका ही है! इसके भीतर है रक्त। महा अपवित्र रक्त!! इसके और भीतर—अन्तस्थलमें? हृदयाकाश-विशुद्ध प्रकाशमय हृदयाकाश!!!' बस! इसके पश्चात् मनीराम पता नहीं कहाँ छूमंतर हो गये। वे भगे नहीं, उनकी सत्ता ही लुप्तप्राय हो गयी। रमाकान्तजी स्थिर, अविचल, शान्त बैठे थे।

दिन गया, रात्रि आयी और वह भी चली गयी। 'प्रातःकाल आज रमाकान्त चरणस्पर्श भी करने नहीं आया? सर्दीमें भी वह दिनभर पानीमें हाथ डाले रहता है। उसे स्नान और सन्ध्या ही दिनभर लगी रहती है। कहीं सर्दी तो नहीं लग गयी?' माताका ममत्व आर्द्र हो उठा। रमाकान्तजीके एकान्तमें कोई बाधा न पड़े, इसलिये कोई उनके पास नहीं जाता था। वे प्रायः दूसरे घेरेवाली कोठरीमें अकेले रहते थे। माता उधर गयीं। द्वार खुला पड़ा था, चूल्हेपर पात्र रक्खा था, अग्निके बदले कुछ भस्म थी और रमाकान्त आसनपर बैठे थे।

माताने पुकारा, बहुत पुकारनेपर भी जब वे न बोले तो स्पर्श किया 'शरीर शीतल, जैसे हिम! नासिकाके पास हाथ ले जानेपर भी श्वासकी गति प्रतीत नहीं होती!' माता चीख पड़ीं।

भीड़ लग गयी और बहुत चिल्लाहट हुई। थोड़ी देरमें श्वास चला, शरीरमें थोड़ी उष्णता आयी और रमाकान्तजी ने नेत्र खोल दिये।

'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' रमाकान्त पूर्णतः बदल गये थे। अब न शरीरका पता रहता था और न संसारका। जब मौज आती तो उपर्युक्त वाक्य कहते और हँस पड़ते। इसके सिवा उन्हें कोई कार्य न था।

सन्तोष

(सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः)

मातृभूमि से इतनी दूर, एकाकी, यहाँ न कोई अपना परिचित है और न स्वदेश का ही। यहाँ भला, पाँच रुपये से क्या उद्योग करूँ ? शरीर भी तो इतना सबल नहीं कि कहीं मजदूरी ही कर लूँ। कोई उच्च प्रामाणिक परीक्षा भी नहीं दी, नौकरी कौन देगा ? कोई कला या व्यवसाय भी नहीं जानता !' बंदरगाह पर खड़े-खड़े गिरिधारीसिंह सोच रहे थे।

दुर्दैव के मारे बेचारे गिरिधारीसिंह घर से कलकत्ते आये और जब वहाँ कोई काम न मिला तो बैठे-बैठे पास की छोटी सी पूँजी को भी पेट की भेंट करने की अपेक्षा उन्होंने रंगून जाकर भाग्य परीक्षा करने का निश्चय किया। एक मास कलकत्ते में काटकर वे कल जहाज से रंगून उतरे थे।

'समुद्रयात्रा और जलवायु के परिवर्तन से आज ज्वर भी प्रतीत होता है ! यदि बैठकर दवा-दारू करने लगा तो ये पाँच रुपये भी उदर में जा रहेंगे और तब............' उनके सम्मुख उपवास या दर-दर भिक्षा माँगने का दृश्य आ गया। 'यदि दवा न की और ज्वर बढ़ गया ?' स्वजन एवं परिचितों से हीन इस अपरिचित स्थान में रुग्ण होने पर जो दशा होती, उसका दृश्य पहले से भी अधिक भयानक था। सिर पर हाथ रखकर वहीं बैठ गये।

'ऐश्वर्य चाहते हो तो उद्योग करो ! अवश्य मिलेगा !!' भीतर से किसी ने कहा। गिरिधारीसिंह को स्वामी पूर्णानन्दजी के वचनों पर अटूट श्रद्धा थी। वे उन्हें साक्षात् परमात्मा मानते थे। उन्हीं के वचनों पर विश्वास करके तो वे घर से कलकत्ते के लिये चले थे। तब क्या स्वामी जी के ये वचन असत्य हैं ? ना, ऐसा तो हो नहीं सकता। अब भी तो मेरे पास पाँच रुपये हैं। एक बार नवीन उत्साह लेकर वे फिर उठे।

आस्ट्रेलिया से एक जहाज आया था और उस पर गेहूँ भरा था। जहाज पर आने वाले लोग नवीन थे। गिरिधारीसिंह तनिक स्थूल शरीर थे और अच्छे कपड़ों में रहने वाले। पास में कुछ न रहने पर भी उनके वस्त्र स्वच्छ रहते थे। गिरिधारीसिंह ने सोचा 'कारावास ही तो होगा ? वहाँ कम से कम पेट की चिन्ता से मुक्त रहेंगे।' सीधे जाकर जहाज के अधिकारियों से पूरा जहाज गेहूँ खरीदने की बातचीत करने लगे।

जहाज के अधिकारियों ने समझा 'बिना दलाल के आने वाला यह कोई धनी, पर नवीन व्यापारी है।' गिरिधारीसिंह को अपने घर से क्या देना था। झटपट मोल-भाव हो गया। इन्होंने पाँच रुपये देकर उन लोगों से गेहूँ बेचने की रसीद लिखा ली।

लोग कहते हैं कि भगवान् को देना होता है तो छप्पर फाड़कर देते हैं। रसीद लिखाकर गिरिधारीसिंह हटे ही थे कि जहाज के अधिकारी ने उन्हें फिर बुलवाया 'आस्ट्रेलिया से कंपनी के स्वामी का तार आया है कि गेहूँ अभी न बेचा जाय !' गिरिधारीसिंह समझ गये कि गेहूँ का बाजार चढ़ गया है। उन्होंने गेहूँ वापस देना अस्वीकार कर दिया। जहाज के स्वामियों ने

फिर तार खटकाये। गिरिधारीसिंह से अनुनय-विनय की। अन्ततः खरीदे हुये भाव से आध-पाव प्रति रुपये कम करके जहाज वालों को ही गेहूँ बेच दिया गया। पूरे तेरह हजार सात सौ पचपन रुपये का चेक लेकर गिरिधारीसिंह नगर में लौटे।

[२]

भगवती भागीरथी के भव्य कूल पर अश्वत्थमूल में आज तीन-चार मास से एक मस्त महात्मा पड़े हैं। कमर में एक कौपीन के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं। मध्याह्न में गाँव में जाकर 'नारायण हरि' करते हैं और जो कुछ मिला, अञ्जलि में लेकर मुख में डाल लेते हैं वहीं। दो-चार घरों से इसी प्रकार भिक्षा करके लौटते हैं, और फिर भर-भर अञ्जलि वह श्री हरि का चरणोदक पान करते हैं। उसे किसी से माँगना तो है नहीं।

भावुक भक्त अपनी भावना के अनुसार स्वामी जी के सम्बन्ध में चर्चा करते हैं। कोई उन्हें सिद्ध बतलाता है, कोई तपस्वी, कोई विरक्त और कोई आत्मदर्शी। स्वामी जी कुछ भेंट तो लेते नहीं, गाँव के भोले लोग यों ही उनको दर्शनों को सुविधानुसार आया करते हैं। स्वामी जी एक तो वैसे ही कम बोलते हैं और दूसरे उनकी गूढ़ बातें समझने की यहाँ योग्यता भी किसमें है। खेत और घर से ही अवकाश नहीं, यह कौन पता लगाये कि मुक्ति, ज्ञान, जिज्ञासा आदि किन पक्षियों के पर्याय हैं। महात्माओं के दर्शन से पुण्य होता है या उनका दर्शन करना चाहिये, इसी सामान्य भावना से लोग आते हैं। जो हो सकता है, सेवा भी करते हैं। पुण्य भी होगा, घर में मङ्गल होगा—इस लोभ से या महात्मा कहीं अप्रसन्न होकर कोई शाप न दे दें—इस भय से भी।

दोपहरी की भिक्षा करके स्वामी जी लौटे तो एक दिन उन्होंने एक ग्रामीण को अपनी प्रतीक्षा करते पाया। वैसे ये सज्जन प्रायः नित्य प्रातः-सायं आते हैं और स्थान पर झाड़ू देना आदि छोटी-मोटी सेवाएँ करते ही रहते हैं। आने वालों में सबसे उज्ज्वल वस्त्रों वाले होने पर भी यहां निःसंकोच धूलि में बैठते हैं। आज इस दोपहरी में सब अपने २ काम में लगे होंगे, स्वामी जी के पास एकान्त होगा-यह समझकर वे आये थे। स्वामी जी से अकेले में वे कुछ कहना चाहते थे, और अवसर मिलता ही न था।

'गिरिधारीसिंह! आज दोपहरी में कैसे ?' असमय में आने का कारण स्वामी जी ने पूछा। उत्तर के स्थान पर आगन्तुक स्वामी जी के चरणों में मस्तक रखकर सिसकने लगा। ठीक बच्चों के समान। स्वामी जी ने उसे उठाया और आश्वासन देकर कारण पूछा।

'माता-पिता के प्यार ने कष्ट सहने में असमर्थ बना दिया है। कभी अपमान सहना नहीं पड़ा और न परिश्रम ही करना पड़ा। पिछले वर्ष पिता के देहान्त से ही विपत्ति प्रारम्भ हुई। घर में कोई सम्पति नहीं। कृषि का श्रम सहा नहीं जाता। पर्याप्त पढ़े-लिखे भी नहीं कि कहीं नौकरी करें। अब सरकारी लगान देना है। महाजन ऋण देता नहीं और पुराने ऋण को कड़ाई से माँगता है। घर में भोजन के लिये भी नहीं।' यही सब कष्टकथा सिसकते हुये सुनाने के पश्चात् वे फिर स्वामी जी के चरणों पर गिरकर फूट फूटकर रोने लगे।

स्वामी जी ने उठाया 'भैया, रोओ मत! मैं विरक्त साधु हूँ। मेरे पास द्रव्य तो है नहीं जो तुम्हें दे दूँ। मैं केवल आशी-

र्वाद दे सकता हूँ। सुख यदि चाहते हो तब तो संतोष करो! नहीं, यदि ऐश्वर्य चाहते हो तो उद्योग करो!! अवश्य मिलेगा, जिसे चाहोगे!'

ऐश्वर्य से भिन्न सुख की कल्पना भी उस समय गिरिधारीसिंह नहीं कर सकते थे। उन्होंने तो 'उद्योग करो और ऐश्वर्य अवश्य मिलेगा! इसी आशीर्वाद को ग्रहण किया। स्वामी जी के आशीर्वाद पर उन्हें विश्वास था। वे प्रसन्न हो गये।

[२]

'न ठिकाने से भोजन, न स्नान, दिन भर हाय-हाय करते-करते जान चली जाती है। रात्रि में भी विश्राम नहीं।' झुँझलाकर रंगून के प्रसिद्ध आढ़ती बाबू गिरधारीसिंह ने टेलीफोन की घंटी बजने पर फोन लेने के बदले कनेक्शन पृथक कर दिया। आज दिन भर उन्हें अत्यधिक व्यस्त रहना पड़ा था। बारह बजे रात्रि में शयन करने को लेटने पर इस टेलीफोन का आना उन्हें बहुत अखरा।

'इससे तो मैं घर पर ही शाँति से रहता था। न इतनी चिन्ता थी और न इतना परिश्रम ही करना पड़ता था। इससे मिलो, उसे देखो, ये सन्तुष्ट रहें, उन्हें अप्रसन्न करने से हानि होगी—मैं इन सब बखेड़ों में दिनभर नाचते नाचते तंग आ गया।' उनके झुँझलाये मस्तिष्क में एक आँधी चल रही थी। नेत्र बन्द करने पर भी निद्रा पास नहीं फटकती थी। अन्त में विचारों की उद्विग्नता से त्राण पाने के लिये उन्होंने बिजली का बटन दबाया और पास पड़ी रामायण उठा ली।

बिनु संतोष न काम नसाहीं।
काम अछत सुख सपनेहुँ नाहीं॥

सर्व प्रथम यही पंक्ति सामने आयी और यहीं समाप्त। पुस्तक बन्द करके यथास्थान रख दी गयी। 'स्वामी जी ने यही तो कहा था कि सुख चाहते हो तो संतोष करो! मैं उस समय सम्पति का इतना भूखा था कि उससे भिन्न सुख को समझ ही न सका। उन महापुरुष का आशीर्वाद अब भी मेरे साथ है। ऐश्वर्य-रोग की पीड़ा भली प्रकार भोग चुका। अब और नहीं-बस।' उन्होंने प्रकाश बंद कर दिया और सो गये।

दूसरे दिन से सबने देखा कि गिरिधारीसिंह कुछ दूसरे ही हो गये हैं। 'घाटा हो रहा है—हो जाने दो! अत्यावश्यक कार्य है—पूजा से निवृत्त होने पर। कलक्टर अप्रसन्न हो गये तो हानि हो सकती है—क्या मेरा प्रारब्ध ले लेंगे?' सहकारी हैरान थे। 'घाटे पर घाटा होता जा रहा है और यह ऐसा अजीब मनुष्य है कि इसे सिर-पैर का ध्यान ही नहीं रहता! पहले तो यह बड़ा उद्योगी था। अब क्या हो गया? किसी ने धन का गर्व बताया और किसी ने मस्तिष्कका विकार।

संसार में नीति चलती है और परलोक तथा अन्तःकरण में धर्म। धर्म नीति पर विजय पाता अवश्य है; किन्तु पराकाष्ठा पर पहुँचकर। अन्यथा नीति की उपेक्षा का दण्ड महाराज हरिश्चन्द्र को भी भोगना पड़ा। यहाँ भी यही हुआ। इस उपेक्षा के फल से दिवाला निकल गया। गिरिधारीसिंह को कुछ छिपाकर तो रखना नहीं था। सब कुछ एक ही दिन मे जिस समाज से एकत्र हुआ था, उसी में वितरित हो गया। रंगून छोड़कर जब गिरिधारीसिंह कलकत्ते उतरे, उनके पास केवल पाँच रुपये थे। ठीक उस दिन की भाँति, जिस दिन वे सर्वप्रथम रंगून पहुँचे थे।

भगवती भागीरथी के भव्य कूल पर एक अश्वत्थ के मूल

में एक ईंटों का छोटा- सा चबूतरा है। वृद्ध भगत ठाकुर उस पर गङ्गा में गोता लगाकर घर लौटते हुए एक लोटा जल और पास के कनैर से दो पीले पुष्प नित्य चढ़ाते हैं। लोग कहते हैं कि इक-लौते पुत्र तथा पत्नी की मृत्यु पर भी भगत ठाकुर ने मुस्कराकर कह दिया था कि 'चलो ठीक हुआ' लेकिन इस चबूतरे पर पुष्प चढ़ाते हुए उनके नेत्रों के कोनों से एक साथ कई बूँदे निकल आती हैं। लोग बाबू गिरिधारीसिंह को अब इसी नाम से सम्बो-धन करते हैं। उनके नित्य प्रसन्न मुख पर किसी ने कभी विषाद का चिह्न नहीं देखा। हमने उस दिन प्रत्यक्ष देखा कि यमराज भी उनकी मुसकान को म्लान न कर सके।

तप

(कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः)

चारों ओर सुनसान जंगल देख कर शिष्यने कहा, 'गुरुदेव, हम सब मार्ग भूल गये हैं !'

'नहीं वत्स, यहाँ आनेका कुछ उद्देश्य है गोरख कभी मार्ग नहीं भूलता। देखो, उस पीपलकी सीधमें वह ग्राम दिखायी दे रहा है। वहाँ पर्याप्त भीड़ है। आज एक भक्तने साधुओंको भोजन करानेका निश्चय किया है। कोलाहल स्पष्ट सुनायी पड़ता है और घीकी सुगन्धि भी आती है।' महात्मा गोरखनाथजीने एक ओर संकेत किया 'यह सीधा मार्ग है। दूसरे मार्गसे आने-पर सन्ध्यातक भी वहाँ न पहुँचते।'

चलते-चलते दिन ढलने लगा और तब जाकर कहीं ग्राममें पहुँचे। शिष्य सोच रहा था 'अवश्य गुरुदेवने वह बातें अनुमान-से कही होंगी। अन्यथा उतनी दूरसे ग्राम देख लेना, शब्द सुन लेना या सुगन्धि प्राप्त कर लेना कैसे सम्भव है। जो भी हो, गुरुदेवका अनुमान अत्यन्त सच्चा होता है।'

पंक्ति बैठी और साधु भोजन करने लगे। महात्मा गोरख-नाथजीने एक लड्डूको काटते हुये कहा 'इधर लड्डुओंमें नीमके पत्ते डालनेकी भी प्रथा है क्या ?' गृहस्थ उस नवीन शिष्यकी भाँति महात्माजीसे अपरिचित नहीं था। वह उन योगिराजकी अलौकिक शक्तियोंसे परिचित था। उसने घरमें पूछताछ की और

यह स्वीकार करते हुए क्षमा-याचना की कि 'घृत खौलाते समय दो-तीन नीमके पत्ते हवासे उड़कर कड़ाहेमें जा गिरे थे।'

भोजनोपरान्त सबको आसन देकर बैठाया गया। श्रीगोरखनाथजीने अपना आसन छोड़ते हुए कहा, 'मैं अस्थिपर तो बैठनेसे रहा।!' वहीं एक दूसरे सिद्ध भी थे। उन्होंने उस आसनपर चरण रक्खा 'पृथ्वीमें कहाँ अस्थि नहीं है? सो यहाँ तो पूरे एक हाथ नीचे एक पशुका पैर मात्र है।' वे वहीं बैठने लगे। उत्सुकतावश लोगोंने उन्हें दूसरे आसनपर बैठाकर उस स्थानको खोदा। निकला क्या? एक कुत्तेका पैर।

शिष्यको अब गुरुकी शक्तिका बोध हुआ। एकान्त प्राप्त कर उसने वहाँसे आश्रममें आनेपर एक दिन अपने महान् गुरुके पदप्रान्तमें मस्तक रखकर इन सिद्धियोंका रहस्य जाननेकी इच्छा प्रगट की।

'ये कोई सिद्धियाँ नहीं हैं, यह तो स्वाभाविक शक्ति है प्रत्येक मानवकी!' योगिराजने गम्भीरतापूर्वक समझाया। 'आदिशक्तिने किसीसे पक्षपात नहीं किया है सबको समान शक्ति प्रदान की है। गिद्धकी दृष्टि, पिपीलिकाकी घ्राणशक्ति, हंसकी रसना, श्वानका श्रवण, अन्धोंकी स्पर्शशक्ति और मकड़ीका कालज्ञान प्रत्येक प्राणीको प्राप्त है। उपयोग न करनेसे इन सबकी स्वाभाविक शक्ति नष्ट हो जाती है और उनपर मल एकत्र हो जाता है। तपस्याके द्वारा अशुद्धि नष्ट होनेपर वे शक्तियाँ पुनः जाग्रत् हो जाती हैं।'

समर्थ गुरुने भाँप लिया कि शिष्यमें इनके प्रति अनावश्यक उत्सुकता है, 'ये कोई महत्त्वकी वस्तुएँ नहीं हैं। गिद्धादि

पक्षी बननेकी अपेक्षा तुम्हें मानवतासे भी ऊपर उठना है और वह दिव्य बोध प्राप्त करना है जो इस शरीरका लक्ष्य है। तुम्हारी शक्ति का उपयोग उसीके लिये होना चाहिये। इन बाजीगरीके कौतुकोंके लिये नहीं।'

उस समय तो शिष्यने गुरुदेवके वचनोंको स्वीकार कर लिया, पर उसके हृदयसे वह उत्सुकता गयी नहीं। आवश्यक शिक्षा प्राप्त कर उसे तपस्या करनेका आदेश हुआ। नैपालकी तराई के एक उपयुक्त वनके लिये लिये उसने प्रस्थान किया।

[२]

'तुम बड़े बलसे गर्वित दीखते हो, तनिक वह मेरा कमण्डल तो दे दो!' एक हट्टे-कट्टे पहलवानको सिद्धनाथजीका आदेश हुआ। उस बेचारेने बड़ा बल लगाया, उसके माथेपर पसीना आ गया; लेकिन वह तुम्बी उससे उठी नहीं। 'बस, इसीपर इतने घमंडी बने हो?' उसने लज्जासे मस्तक झुका लिया।

कुछ अधिक सम्पन्नलोग आ गये थे दर्शनार्थ। इतनी सिद्धि दिखानेसे सन्तोष हुआ नहीं। बच्चे! मुझे तनिक उठाकर वहाँ तो बैठा दो!' भला वह आठ वर्षका बालक उन्हें कैसे उठाता? लोगोंके पुचकारनेपर वह उठा। यह क्या? उसने फूलके समान स्वामीजीको उठाकर दूसरी चौकीपर बैठा दिया। लोगोंको तब और भी आश्चर्य हुआ जब उन्होंने देखा कि महाराज का शरीर उस चौकीपर पहुँचनेके पश्चात् ही घटने लगा और घटते-घटते नवजात शिशुके समान हो गया। उसी अवस्थामें रहकर वह उपदेश और प्रवचन करते रहे।

दिन थे गर्मीके, आम पकने लगे थे। महात्माजीने पासके वृक्षके शिखरपर चमकता बड़ा पीला आम लानेका आदेश दिया।

चढ़नेको एक व्यक्ति चढ़ गया, पर वह फल बहुत दूर सीधी डाल-पर था वहाँ चढ़ना बहुत कठिन था। डाल हिलानेपर कच्चे फल कई गिरे, पर वह नही गिरा। 'व्यर्थमें कच्चे फल मत गिराओ। महाराजने आदेश किया। विवश होकर लंबे बाँसकी खोज होने लगी।

सच्ची बात तो यह थी कि महाराज को चमत्कार दिखाना था, मैं स्वयं तोड़ लूँगा।' कहकर वे उठे और उनका शरीर लंबा होने लगा। इतने लंबे हुए कि हाथसे फलको तोड़ा। फल एक भक्तको जो सबसे सम्पन्न जान पड़ता था, प्रसादरूपमें दिया गया शरीर अपनी माध्यम स्थितिमें आ गया।

भीड़ जुटने लगी सिद्धनाथजीके समीप। जनता तिलका ताड़ तो चुटकी बजाते करती है। चर्चा होने लगी कि वे पत्थर-को मनुष्य, बाघको बछड़ा आदि बना देते हैं। सबके मनकी बात बतला देते हैं रोगी रोगसे त्राण पाने, दरिद्र धनके लिये, सन्तानहीन पुत्रके लिये, इस प्रकार लोग अपनी अपनी कामनाके लिये आने लगे।

महाराजको खाँसी भी आ जाय तो भक्त उसका कुछ-न-कुछ अर्थ अवश्य लगा लेते। प्रसिद्धिके साथ माया भी एकत्र होने लगी। भव्य मठ तो बन ही गया था, सरोवर के घाट बँध रहे थे। बगीचा लग गया था। आगन्तुकोंके ठहरनेके लिये धर्म-शालाकी नींव भी पड़ गयी। भण्डारा तो नित्य होता है।

[३]

पूरे चौदह वष पश्चात् शिष्यको सुयोग मिला कि वह अपने परम पूज्य गुरुदेवके चरणोंमें उपस्थित हो सके। बाबा

गोरखनाथजी आये थे और उन्होंने घाघराके दूसरे तटपर एक वटवृक्षके नीचे आसन लगा दिया था। पता नहीं क्या समझकर वे इस पार श्रीसिद्धनाथजीके मठपर नहीं पधारे।

गुरुदेव नहीं पधारे तो मुझे तो उनके चरणोंमें उपस्थित होना ही चाहिये।' सिद्धनाथजीके साथ उनका सेवक मण्डल भी चला। सिद्ध और साधारण मानवमें प्रभेद ही क्या हो, यदि वह भी सर्वसाधारणके सदृश ही सब काम करे ? लोग तो बैठे नौका-ओंपर, किन्तु सिद्धनाथजी तो सिद्ध ठहरे, वे खड़ाऊँ पहने ही नदीके वक्षस्पर चलने लगे ! उनके खड़ाऊँ जलके ऊपर वैसे ही पड़ते थे, जैसे पृथ्वीपर। चरणकीअंगुलियोंको भी जलने स्पर्श नहीं किया। वे घाघरा पार हो गये।

वटकी सघन छायामें मूलके समीप बाबा गोरखनाथजी एक शिलापर व्याघ्राम्बर डाले शान्त बैठे थे। धूनी जल रही थी और लंबा चिमटा गड़ा हुआ था। दोनों कानोंमें विशाल मुद्रा झूल रही थी। पास ही बहुत-से भक्त मस्तक झुकाये पृथ्वीपर बैठे थे।

सीधे पहुँचकर सिद्धनाथजी सम्मुख दण्डकी भाँति गिर पड़े। भक्तोंने उनके लिये मार्ग छोड़ दिया था। गुरुने मस्तक उठाया। पता नहीं क्यों महापुरुष का मुख तमक उठा। नेत्र लाल हो गये। चिमटा उखाड़कर उन्होंने अंधाधुंध बौछारें प्रारम्भ कर दीं सिद्धनाथकी पीठपर !

किसीमें इतना साहस नहीं था कि उन योगिराजको उस समय रोके। प्रसिद्ध सिद्ध सिद्धनाथ भी इस प्रकार भीत हुए पिट रहे थे, जैसे अध्यापकके हाथों कोई बालक ताड़ना पा रहा हो।

गुरुदेवकी उग्र मुखाकृतिको एक बार देखनेके पश्चात् फिर नेत्र नहीं उठ सके। चिमटेकी मार पीठ, सिर, हाथ, पैर जहाँ भी जो अंग सामने पड़ता, वहीं बेभावकी पड़ रही थी।

'क्यों रे, नदी पार होनेमें कितने पैसे लगते हैं?' भली प्रकार पीठ-पूजा करनेके उपरान्त गुरुदेवने पूछा।

'केवल एक पैसा और साधुसे कुछ नहीं।' डरते-डरते शिष्यने उत्तर दिया।

'इतने दिनों शरीरको तपस्याकी अग्निमें भस्म करके तूने यह एक पैसेकी मजदूरीका व्यापार सीखा है! मूर्ख, ताड़ तुझसे अधिक लंबा है और हिमालयसे भारी तू बन नहीं सकता। कोई तेरा कमण्डलु उठा सके, या न उठा सके, तुझे क्या लाभ? तूने पशु और जड़ बननेके लिये ही घर-द्वार छोड़कर इतना कष्ट उठाया था।

चिमटेकी मार उतनी गहरी नहीं थी, जितनी इन शब्दों-की। गुरु क्या जो शिष्यके बाह्याभ्यन्तरका प्रतिपलका ज्ञान न रक्खे? चिमटेकी मारमें मूक रहनेवाले सिद्धनाथ बच्चोंकी भाँति सर्वज्ञ गुरुदेवके समर्थ श्रीचरणोंमें फूट-फूटकर रोने लगे।

'बस—इसीलिये आया था। अब फिर मिलूँगा चौदह वर्ष बाद।' गोरखनाथजीने चिमटा और व्याघ्राम्बर उठाया और एक ओर सघन वनमें लीन हो गये। वे पुनः चौदह वर्ष पश्चात् सिद्धनाथजीको मिले या नहीं, यह तो पता नहीं पर इतिहास साक्षी है कि सिद्धनाथ अपने गुरुदेवसे तनिक भी न्यून नहीं थे। वे एक उच्चकोटिके महापुरुष हो गये हैं।

स्वाध्याय

(स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः)

'चैतन्य महाप्रभु जब दक्षिणकी यात्रा करने गये थे तब एक स्थानपर उन्होंने एक ब्राह्मणको श्रीमद्भगवतगीताका पाठ करते देखा। ब्राह्मण सम्भवतः संस्कृत नहीं जानता था, क्योंकि वह श्लोकोंका शुद्ध उच्चारण नहीं कर पाता था। लेकिन पाठके समय उसके नेत्रोंसे अजस्र अश्रुप्रवाह चल रहा था। महाप्रभु उसके पीछे पाठ समाप्त होनेतक खड़े रहे और जब वह पाठ समाप्त करके अपने समीप एक सन्यासीको देख उन्हें प्राणिपात करने लगा तो महाप्रभुने 'श्रीहरिः' कहकर उसे आशीर्वाद देनेके पश्चात् पूछा—'विप्रवर! आप गीताजीको श्लोकोंको समझते हैं?' ब्राह्मणने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया—'भगवान्! मैं अज्ञ भला इन गूढ़ श्लोकोंको क्या जानूँ! मैं तो इनको पढ़ते समय यह देखता हूँ कि एक रथपर अर्जुन धनुष-बाण डाले बैठे हैं और श्यामसुन्दर एक हाथमें घोड़ोंकी रास तथा दूसरेमें चाबुक लिये रथके आगे बैठे हैं तथा अर्जुनकी ओर मुख घुमाकर कुछ कह रहे हैं। उनके पतले-पतले लाल-लाल होंठ बोलते समय बड़ी सुन्दरतासे हिल रहे हैं। यही देखते-देखते मैं भूल जाता हूँ कि पाठ समाप्त भी करना है।' महाप्रभु बच्चोंकी भाँति फूट पड़े। रोते-रोते ब्राह्मणको हृदयसे लगाया। उन्होंने कहा—'गीताजीका ठीक-ठीक अर्थ केवल तुम्हींने समझा है।' क्या तुम कह सकते हो कि उस विप्रकी भाँति तुमने एक दिन भी सप्तशतीका स्वाध्याय किया है?'

'भगवान् ! मैंने इस प्रकार तो स्वाध्याय नहीं किया !'

'तब तुम कैसे कहते हो कि माँ तुमपर प्रसन्न नहीं होती ? माँ और अप्रसन्न ! बच्चे ! माँ तो प्रसन्नताकी मूर्तिका दूसरा नाम है। वह करुणामयी नित्य प्रसन्न हैं। तुम उन्हें सचमुच कभी पुकारते ही नहीं। कैसे हो सकता है कि तुम पुकारो और माँ आवें नहीं ?'

किन्तु मैंने तो.....................।'

'रुको ! तुमने दुर्गासप्तशतीके पाठ सविधि समाप्त कर दिये और नवाक्षर बीजमन्त्रोंका जप भी किया हवन-तर्पणके साथ। यही तो तुम कहना चाहते हो ? पर सच कहो क्या तुम्हारे मनमें श्रद्धा थी ? मन एकाग्र और प्रेमसे पूर्ण था ? तुम बता सकते हो कि यदि ग्रामोफोनमें सप्तशतीके रेकार्ड बनाकर सहस्र बार बजाये जावें तो माँ आवेंगी या नहीं ?'

'भला रेकार्ड बजानेसे माँ कैसे आवेंगी ?'

'ठीक—रेकार्ड बजानेसे माँ नहीं आ सकतीं, क्योंकि वह जड़ है और उससे क्रियामात्र होती है—भावहीन। माँ, क्रियाधीन या कर्मपरतंत्र नहीं हैं। वे यदि परतन्त्र हैं भी तो भाव या प्रेमपरतन्त्र। इसीसे रेकार्ड बजानेपर नहीं आतीं और तुम्हारी पूजापर उन्हें आना चाहिये क्यों ?'

'मैं ऐसा ही सोचता हूँ।'

'अब बताओ कि तुम्हारा पाठ और जप रेकार्डकी भाँति रटन्त हुआ या मानवकी भाँति प्रेमपूर्ण भाव तथा एकाग्र चित्तसे ?'

'गुरुदेव ! मुझे अपने प्रश्नका उत्तर तो प्राप्त हो गया, लेकिन श्रीचरणोंने आदेश किया था कि स्वाध्यायमात्रसे इष्ट देवताका साक्षात् होता है ?'

'मैंने कहा अवश्य था; किन्तु कहा था मानवके लिये। स्वाध्यायमात्रका अर्थ दूसरे साधनोंकी अपेक्षा बिना केवल स्वाध्यायसे, यह कहना था। पहले स्वाध्यायको समझ लो! जिसकी आवृत्ति करते-करते उसे हृदयका एक भाग बना लिया जाय जो अपने हृदय का एक अध्याय हो जाय, वही स्वाध्याय है। फिर चाहे वह मन्त्र-जप हो या ग्रंथ-पाठ। ऐसे ही स्वाध्यायसे आराध्यकी प्राप्ति अथवा इष्ट-सिद्धि होती है।'

[२]

हम सबकी भाँति महेशने भी आध्यात्मिक पुस्तकोंको यों ही सूँघ लिया था। कुछ सुन-सुना लिया था। पिता माँ दुर्गाके उपासक थे, घरमें माताके गुणोंका वर्णन होता ही रहता था। बचपनसे पिताने दुर्गाकवच रटा दिया था। भयके ही कारण सही, महेश उसका नित्य पाठ करता था। बचपनके संस्कार धीरे-धीरे वैसा ही सुसंग पाकर पुष्ट होते गये। अब महेशको माताके अतिरिक्त दूसरे किसीकी चर्चा भाती नहीं थी।

घरपर अन्न-वस्त्रका अभाव था नहीं, पत्नी भी अनुकूल मिली थी। यों तो 'जीवन अतृप्तिका एक नाम' है ही; फिर भी महेश उतना हाय-हाय करनेवाला नहीं था। दूसरे, पिताने बराबर उसे समझाया था कि सर्वेश्वरी जगन्मातासे उसकी 'मंगल मंजुल गोद' माँगनेके अतिरिक्त दूसरे तुच्छ सांसारिक पदार्थ माँगना महामूर्खता है। 'जब हम जगन्माताके राजकुमार हो सकते हैं तो भिखमंगे क्यों बनें?' महेशको इस भिक्षुक मनोवृत्तिसे घृणा थी वह चाहता था केवल माताका दर्शन।

एक चाह होती है और दूसरी होती है भूख। हम संसारमें जाने क्या-क्या चाहते हैं, यदि कोई बिना हाथ पैर हिलाये वे

दे तो। लेकिन जिसके लिये हम भूखे होते हैं, उसके लिये आकाश-पाताल एक कर डालते हैं। महेशमें माताके दर्शनोंकी जो चाह थी, वह बढ़ी और बढ़ते-बढ़ते भूख बन गयी।

पिताका शरीरान्त होनेसे घरका सारा भार महेशके ही सिर आ गया। वह अब स्वयं पिता बन चुका था, इससे उसका दायित्व और भी बढ़ गया था। घरके जंजालोंसे अवसर ही नहीं मिलता था। कई बार विन्ध्याचल जानेका विचार हुआ; किन्तु जा न सका। 'ये कार्य तो जीवनभर अवकाश न देंगे।' यह सोचकर उसने जानेका निश्चय ही कर लिया। जहाँ निश्चय की शक्ति है, वहाँ बाधा क्या ?

अष्टभुजाके दर्शन करके जब वह मन्दिरसे निकला तो उसने पंडेसे पूछा 'इस रमणीय वनमें कोई महात्मा भी रहते हैं ?' पता लगा कि पहाड़ीके उस ओर यहाँसे तीन-चार मीलपर एक अच्छे सिद्ध महापुरुष रहते हैं, लेकिन वहाँ जानेका मार्ग बड़ा कठिन है। महेशने कठिनाइयोंकी चर्चा व्यर्थ समझी। वह पंड़ेकी बतायी पगडंडीसे चल पड़ा। झाड़ियोंमें झुकते, कण्टकोंमें उलझते, ऊँची नीची चट्टानोंपर चढ़ते-उतरते किसी प्रकार वह उस गहन वनकी एकान्त फूसकी कुटियामें पहुँच गया।

एक तूँबी, एक कुल्हाड़ी, चिमटा मृगचर्म और धूनीके पास कुछ काष्ठ, बस वहाँ इतना ही सामान था। जगत्के नेत्रोंसे दूर वहाँ एक जटा-भस्मधारी श्यामकाय महापुरुष धूनीके समीप दिगम्बर शक्ति-आसनपर बैठे थे। हाथोंमें रुद्राक्षकी माला घूम रही थी। महेशने साष्टाङ्ग प्रणिपात किया। महापुरुषके नेत्र उठे। उस बेधक एवं गम्भीर दृष्टिने सब समझ लिया। 'तू आ गया यहाँ ? कैसे आया है ?'

'श्रीचरणोंके दर्शनार्थ ?' एक क्षण रुककर महेशने पुनः हाथ जोड़कर पूछा, प्रभो! क्या इस अधमको भी माँ अपनावेंगी ? मैं भी उनके पादपद्मोंके दर्शन पा सकता हूँ ?'

महात्मा मुसकराये 'अवश्य ! स्वाध्याय करो ! इष्टकी सिद्धि जप और पाठसे ही होती है।'

महेशने अनुनय किया और उसे दुर्गासप्तशतीके अष्टोत्तर शत पाठ तथा नवाक्षर बीजमन्त्रके जपका आदेश हुआ। 'तुम आओगे, यह माताने प्रथम ही मुझे सूचित किया था। अब जाओ ! दिन ढल रहा है, बस्ती तक अँधेरा होनेसे पूर्व पहुँचना ठीक होगा। जङ्गल तो हम जंगली लोगोंके लिये ही उपयुक्त है।'

महेशने पुनः साष्टाङ्ग प्रणिपात किया और धूनीसे मिली प्रसादस्वरूप भस्मको वस्त्रमें बाँधकर लौटा।

वह घर आया और पहुँचनेके तीन दिन पश्चात् ही उसने विधिपूर्वक फलाहार एवं भूमि-शयन करते हुए सप्तशतीका पाठ और जप प्रारम्भ कर दिया। कुल एक सौ आठ ही पाठ तो करने थे, पूरे हो गये। जप भी समाप्त हो गया, पर माताका साक्षात् हुआ नहीं।

'मुझसे विधिमें कोई त्रुटि हुई नहीं, माँ ने दर्शन क्यों नहीं दिया ?' गुरुके वचनोंपर अविश्वासके लिये हृदयमें स्थान नहीं था। अपनी त्रुटिका स्वयं ज्ञान न होनेपर वह फिर गुरुदेवके चरणोंमें उपस्थित होने विन्ध्याचलको चला।

[२]

पाठ-पाठमें भी भेद होता है। सप्तशतीका पाठ तो सभी करते हैं; किन्तु महेशजीका पाठ कुछ और ही ढंगका है। वे श्लोकोंको केवल वाणीसे पढ़ नहीं जाते, हृदयसे उनका पाठ

करते हैं। जिन सात सौ श्लोकोंको पण्डित लोग एक घंटेमें समाप्त कर देते हैं, उन्हींमें लगते उन्हें पूरे सात घंटे। पाठके पश्चात् जब जप प्रारम्भ होता—दूसरा ही कोई उनसे बार-बार भोजनके लिये आग्रह करता तो वे उठ पाते। अन्यथा उन्हें स्मरण ही नहीं होता कि कुछ और भी संसारमें मुझको करना है।

दुर्गापाठके उन सीधे-सादे श्लोकोंकी स्फूर्ति जब हृदयसे होती, पता नहीं कितने गुरुतर गम्भीर अर्थोंका उनसे उद्भव होता। वे गहन तत्त्व जो हम सब बड़े-बड़े भाष्योंके द्वारा भी समझ नहीं पाते, दीर्घकालीन शास्त्रोंके पठन-पाठनसे भी कठिनतासे उपलब्ध होते हैं, महेशजीको उन श्लोकोंमें सरलतासे प्राप्त हो जाते थे। इसे चाहे माँकी कृपा कहिये या एकाग्रताका परिणाम।

धीरे-धीरे वासनाएँ शान्त होती गयीं और दशा यहाँ तक पहुँच गयी थी कि 'माँका दर्शन हो यह इच्छा भी पता नहीं कहाँ चली गयी। पाठमें स्वाभाविक रुचि थी और जपमें आनन्द आता था। यह भूल ही गया कि पाठ कितना हुआ और जप कितना? जब कभी महेशजी गुनगुनाते रहते—

सब कुछ लेलो किन्तु-तुम्हारी पूजाका अधिकार रहे।
प्यार रहे न रहे पर प्रिय, मुझपर पूजाका भार रहे॥

एक दिन प्रातःकाल सदाकी भाँति उनके कमरेका द्वार खुला नहीं। पत्नी घबड़ायी और आठ बजते बजते-तक जब पुकारने पर भी द्वार न खुला तो उसने बढ़ईसे किवाड़ तुड़वा दिये। महेशजीके नेत्रोंसे गङ्गा-यमुना बह रही थीं। वे किसी दूसरे ही लोकमें थे। बड़ी देरमें वे प्रकृतिस्थ हुए।

लोग कहते हैं कि महेशजी रात्रिमें कमरा बंद करनेपर 'माँ, माँ' कहकर प्रायः किसीसे बातें किया करते हैं।

ईश्वर प्रणिधान

[समाधिसिद्धिरीश्वर प्रणिधानात्]

बाबा रघुनाथदास जी कुछ पढ़े-लिखे नहीं थे। बचपन में ग्राम पाठशाला में पढ़ने जाते अवश्य थे; किन्तु जिस दिन अध्यापक ने हाथ लाल कर दिये, उसी दिन से उन्होंने भी सरस्वती को नमस्कार कर लिया। माता के एकमात्र वही सन्तान थे, सो भी पितृहीन। ऐसे प्यारे बच्चे कहीं पढ़ा करते हैं? कोई चिन्ता थी नहीं। माता के स्नेह ने अभाव का अनुभव करने ही नहीं दिया था। भोजन, खेल और अखाड़ा, बस वे इतना ही जानते थे शरीर अच्छा बना हुआ था। आकार भी लंबा था। लंबी आकृति, पुष्ट शरीर और गेहुँआ रंग, एक भव्य मूर्ति प्रतीत होती थी। सौभाग्य किसी का सगा नहीं है। माता का शरीरान्त होते ही अवस्था बदल गयी। घर पर कोई सम्पत्ति तो थी नहीं। यजमानों के घर जाकर, सैकड़ों युक्तियों से माता सब काम चलाती थी। उसकी अनुपस्थिति में अपने सिर भार पड़ा। यजमानी कभी की हो तो करते बने। कभी एक मित्र के घर भोजन कर आये और कभी दूसरे के। इसी प्रकार कितने दिन काम चलता? अन्त में नौकरी कर ली पुलिसमें। घर पर तो कोई था नहीं; जिसकी चिन्ता करनी हो। पैसे के लिये झूठ-सच करने से वैसे भी उन्हें घृणा थी। सङ्ग अच्छा मिल गया। अक्षर ज्ञान तो था ही, अपने साथी की देखा देखी 'रामचरितमानस' को उलटा-सीधा पढ़ने का अभ्यास करने लगे। प्रारम्भ से वैष्णव साधुओं पर श्रद्धा थी। कोई साधु आ जाता तो उसे

भोजन बनवा कर प्रसाद कराकर तब जाने देते। पास में एक साधु की कुटी थी। समय मिलता तब वहाँ दिन में एक चक्कर अवश्य लगा आते। एक दो दोहे रामायण के साधु महाराज से सुन आते। हो सकता तो कुछ सेवा भी कर देते। साधु महाराज रामनवमी अयोध्याजी में करना चाहते थे। काशी, प्रयाग, चित्रकूट होकर घूमते-घूमते उन्हें अयोध्याजी जाना था। पौष में चलने का विचार था, जिसमें माघभर तीर्थराज में कल्पवास किया जा सके। रघुनाथ त्रिपाठी ने भी उनके साथ चलने का निश्चय किया। छुट्टी की अर्जी भेजने पर जब वह स्वीकृत नहीं हुई तो नौकरी से इस्तीफा दे दिया।

साधु महाराज के साथ प्रयाग में कल्पवास करने चित्रकूट दर्शन करने के अनन्तर अयोध्या पहुँचे। वहाँ का जो दृश्य देखा तो फिर इच्छा न हुई कि उस दिव्यभूमिका परित्याग किया जाय। साधु महाराज तो रामनवमी करके विदा हो गये और रघुनाथ त्रिपाठी ने बाबा सीतारामदास के चरणों की शरण ग्रहण की। गुरुदेव की कृपा से वे रघुनाथ त्रिपाठी से बाबा रघुनाथदास हो गये। लाल पगड़ी के स्थान पर मस्तक जटाओं से भूषित हुवा।

(२)

मनुष्य को देखकर कोई नहीं कह सकता कि उसके भीतर कितने महान् संस्कार दबे पड़े हैं और कब वे किस रूप में जाग्रत होंगे। कौन जानता था कि एक पुलिस का अनपढ़ सिपाही एक दिन उत्कृष्ट तितिक्षु एवं प्रगाढ़ भगवद्भक्त होगा। लेकिन हुवा कुछ ऐसा ही। श्री सरजूजी के विमल पुलिन पर कटि में मौजी मेखला तथा एक कौपीन लगाये बाबा रघुनाथदास वर्ष के आठ

मास व्यतीत कर देते थे। केवल चातुर्मास्य में जब सरजू जी पुलिन को गर्भस्थ कर लेतीं तो, वे घाट की एक बुर्ज में आ जाते थे। वहाँ पर न धूनी थी और न कन्था। एक तुम्बी अवश्य वे साथ रखते थे, नित्यकर्म के उपयोग के लिए।

दिन में एक बार सरजू जी में प्रातः स्नान करने के उपरान्त चले जाते हनुमानगढ़ी और कनकभवन। उधर ही से पेट को भी भाड़ा देते आते। कण्ठ और कर तुलसी की मणियों से भूषित थे ही। करकी सुमिरनी अविश्रान्त चलती ही रहती थी। एक ही कार्य था "सीताराम, सीताराम" बस। पता नहीं उनके उस गौर चर्म को स्थूल एवं कृष्णप्राय बनाने में कितनी शीत एवं ग्रीष्म ऋतुओं ने श्रम किया होगा। सरजू जी की लहरें ही बता सकती हैं कि उनकी सीताराम की ध्वनि की कितनी मालाएँ श्री कौशलकिशोर के पावन पदों में समर्पित हो गयी हैं। स्वयं बाबा रघुनाथदास को इन उलझनों से कोई मतलब नहीं था। सरदी आवे या गरमी जाय, उनके लिये सब समान। उनकी समझ से 'सीताराम' का जप कभी भी पूरा नहीं हो पाता था। वे उसमें नित्य अतृप्त बने रहते थे। यम-नियम तो व्यापक हैं। इनके बिना कोई किसी भी साधना का अधिकारी होता ही नहीं। जो पल-पल में आसन बदलता है, वह अभ्यास क्या करेगा? एक आसन सभी साधकों को सिद्ध करना ही पड़ता है। बाबा रघुनाथदास जी के लिये यम-नियमों की चर्चा व्यर्थ है। ये तो उनके स्वभाव बन गये थे। जब वे सिद्धासन लगाकर बैठते थे तो आवश्यकता होने पर ही उठते थे। चार छै घन्टों तक तो क्या, एकादशी को वे पूरी रात्रि एक ही आसन पर बैठे रहते थे।

मन और प्राण का अभिन्न सम्बन्ध है। प्राणनिरोध से मनोनिरोध और मनोनिरोध से प्राणनिरोध सम्पन्न होता है। बाबा

जब अपनी 'सीताराम' रट में तल्लीन होते तो मनको कहीं जाने का अवकाश नहीं मिलता। इस मनोनिरोध में जैसा दृढ़ एवं दीर्घकालीन प्राणायाम हो जाता था, वैसा चेष्टापूर्वक कभी नहीं हो सकता। जब मन ही एकाग्र है तो इन्द्रियाँ कहाँ जाँय। उसके सहयोग के बिना उसमें शक्ति ही कहाँ हैं, प्रत्याहार तो स्वयं हुआ करता है। बाबा रघुनाथदास जी ने न कभी प्राणायाम किया और न प्रत्याहार। वे स्वयं हो जाते हैं, यह भी उन्होंने कभी सोचा नहीं। धारणा यदि थी तो 'सीताराम' नाम की और ध्यान था तो युगल सरकार का। यह धारणा ध्यान भी वे जान बूझकर योग करने के लिये नहीं करते थे। जब वे आसन लगाकर प्रारम्भ करते 'सीताराम, सीताराम' तो उन्हें शरीर और संसार दोनों ही विस्मृत हो जाते थे। प्रारम्भ तो वे करते थे। उच्च स्वर से; पर धीरे धीरे स्वर गिरता और अन्त में वाणी रुक जाती। जप श्वास से चलता और जब श्वास शिथिल हो जाता तो मनीराम इस गुरुतर कार्य को सम्हालते। सामने रहते थे युगल सरकार और दोनों नेत्रों से दो धाराएँ कपोल, हृदय और घुटनों पर होती हुई श्री सरयू जी की रेणुकामें अदृश्य होती जाती थी। इसके अतिरिक्त भी कोई समाधि हो तो हुआ करे। इतना अवश्य है कि यह सबीज समाधि ही थी।

'नाम' स्वयं महान् है और कहीं उसके साथ नामी का स्मरण भी रहे, तब तो उसकी तुलना केवल उसी से हो सकती है। क्या आश्चर्य था जो नाम के सहारे बाबा रघुनाथदास इस भौतिक शरीर से ऊपर उठ जाते थे? जिस समय वे आसन लगाकर बैठते थे, लोग कहते हैं कि उनका ना श्वास चलता था ना हृदय और ना शरीर में उष्णता ही रहती थी। वे कनक-भवन से लौटकर प्रायः ग्यारह-बारह बजे बैठते थे और दस बजे

रात्रि तक उधर जाने वाले देखते थे कि वे वैसे ही बैठे हैं। प्रातः साढे तीन बजे सरयू स्नान करने वाले एक साधु कहते हैं कि वे उस आसन से चार बजे के लगभग उठते हैं। उठकर स्नानादि में लग जाते हैं। पता नहीं वे सोते कब होगें ? सोते हैं भी या नहीं ? एक दिन प्रातः स्नान करने वालों ने देखा कि रघुनाथ-दासजी ज्यों के त्यों बैठे हैं। जब वे दस बजे तक भी न उठे तो भक्तों ने पुकारा, हिलाया। बड़ी कठिनता से उन्होंने नेत्र खोले। पता नहीं उन्हें क्या हो गया था ? ना तो किसी की बात सुनते थे और न समझते थे। ऐसे चारों ओर देखते थे मानो कोई आश्चर्य देख रहे हों। हाथ जोड़कर रोने भी लगते थे। भक्तों ने उठाकर स्नान कराया। प्रसाद सम्मुख आने पर भी जब उन्होंने नहीं उठाया तो भक्तों ने उनके मुख में अपने हाथ से ग्रास दिये। थोड़े दिनों यही क्रम चलता रहा। भक्त जन लगभग नौ-दस बजे बाबा रघुनाथदास को स्नान कराते और उन्हें अपने हाथ से भोजन कराते। वे अब कभी अपने आप में रहते नहीं थे। भक्त उन्हें सरयू-किनारे से उठाकर कनक भवन में ले आये। उसी कनक भवन में जो आरम्भ से ऐसे प्रभु के लड़ैते लालों का क्रीड़ा प्राङ्गण बना रहा है; बाहरी घेरे के एक कमरे में उनका आसन लगा दिया। एक दिन लोगों ने देखा कि बाबा के मुख मण्डल से दीप्त प्रकाश निकल रहा है। उनकी ओर देखा नहीं जाता। नेत्र चकाचौंध करते हैं। मस्तिष्क में वहाँ पहुँचते ही 'सीताराम, सीताराम' की ध्वनि इतनी प्रबलता से गूँजती है कि प्रतीत होता है कि यदि मुख से दुराग्रह पूर्वक सीताराम न कहा जाय तो मस्तिष्क फट जायगा। वहाँ पहुँचते ही प्रत्येक व्यक्ति बराबर वहाँ रहने तक सीताराम कहने को विवश हो जाता है। एक-एक करके अठारह दिन व्यतीत हो गये। भक्तों ने सब प्रकार से

हिलाकर, पुकारकर, शंख-घड़ियाल बजाकर प्रयत्न कर लिया, बाबा रघुनाथदास के नेत्र नहीं खुले। उनके मुख का प्रकाश प्रखरतर होता गया। यही प्रकाश बतलाता था कि शरीर में अभी प्राण हैं। आज है रामनवमी ठीक बारह बजे उधर प्रभु के जन्म की पहली तोप दगी और इधर उसी क्षण रघुनाथदास जी के कमरे में एक धड़ाका हुवा। एक भक्त ने बढ़कर देखा और फिर वहाँ भीड़ हो गयी। मस्तक ठीक मध्य से फट गया था। शरीर रक्तारुण बना था और रघुनाथदास श्री रघुनाथ के दिव्यधाम में पहुँच चुके थे।

मानस संघ द्वारा प्रकाशित पुस्तकें

१—शबरी मङ्गल (श्री शंभूप्रसाद बहुगुना) .७५
२—शतपञ्च चौपाई (पं. विजयानंद त्रिपाठी) २.७५
३—मानस प्रसंग ,, ३.५०
४—मानस पञ्चतत्व ,, .७५
५—महात्मा बाली (श्री सुदर्शनसिंह) .३१
६—श्री भगवन्नाम संकीर्तन ,, .१०
७—जरठ जटायु ,, .३१
८—देवर्षि नारद ,, .३१
९—जीवन निर्माण [कहानियाँ] ,, .६२
१०—श्री हनुमान चालीसा सटीक .२०
११—शत्रुघ्नकुमार की आत्मकथा ,, ३.००
१२—प्रभु आवत ,, ४.००
१३—मानस के अनुष्ठान ,, .३५
१४—राक्षसराज ,, २.००
१५—श्री रामचरित मानस में वेदान्त दर्शन
(रायसाहब हीरालाल वर्मा) १.२५
१६—स्व स्वरूप दर्शन ,, १.००
१७—सब ग्रन्थन को रस ,, १.२५
१८—अनुरागी केवट (पं० रामरक्षित रामायणी) .४४
१९—श्री मानस सिद्धान्त (वेदान्त भूषण
श्री पं० रामकुमारदासजी रामायणी) २.५०
२०—धर्मरथ- पं० रामकुमारदासजी रामायणी .७५
२१—मानस पारायण पूजन पद्धति ,, .४४
२२—सुख शान्ति के दो मन्त्र
(सन्त विनीत विहारीदास 'विनीत') .३०

२३—वीरवधू उर्मिला

(सन्त विनीत विहारीदास 'विनीत') १५

२४—अनुसुइया चरित्र	,,	.३०
२५—व्यंगोपदेश	,,	.६०
२६—भगवत भजन कीर्तन	,,	.३०
२७—विवाह प्रसङ्ग	,,	.२५
२८—कथा कुसुमाञ्जलि	,,	१.००
२९—नवधा भक्ति के भक्त	,,	.६०
३०—बाल-चरित्र	,,	.६०
३१—मानस में हठीला भक्त केवट	,,	.१५
३२—श्री वैदेही की विदा	,,	.१५
३३—नये युग का नारद मोह	,,	.२०
३४—जटायू की जीवनान्त झाँकी	,,	.१५
३५—मानस में चरित्र बल	,,	.४०
३६—बाल्मीकि तुलसी भये [नाटक]		.७५

(श्री भगवानदास सफड़िया)

३७—मानवता के चरण	,,	.५०
३८—मानसकण (गो० महन्त रोशनपुरी)		१.००
३९—गूढ़ार्थ चन्द्रिका	प्रथम खण्ड	३.००

(दण्डी स्वामी प्रज्ञानानन्दजी सरस्वती

४०— द्वितीय खण्ड (,, ,,)		३.००

४१—बान्धवेश महाराज रघुराजसिंह

(गुरु श्री रामप्यारे अग्निहोत्री)		१.००
४२—रामवन दर्शिका		.३०
४३—मेघदूत पंजरिका टीका		३.५०
४४—चित्रमय रामवन		.७५
४५—नवधा भक्ति (श्री फतेहबहादुर सक्सेना)		.५०

मन्त्री—मानस सङ्घ, पो० रामवन (सतना)

मानस के मङ्गलाचरण

प्रभुदयाल झुनझुनवाला
चाकुलिया

—सुदर्शनसिंह

प्रस्तावना

श्री रामनवमी सम्वत् १६३१ विक्रम को गोस्वामी श्री तुलसीदास जी ने अयोध्या में श्री रामचरित मानस का प्रणयन-प्रारम्भ किया। आगामी वर्ष विक्रम संवत् २०३१ की रामनवमी को चार सौ वर्ष मानस-निर्माण प्रारम्भ के पूरे होंगे। देश की अनेकों संस्थाओं ने इस अवसर पर मानस चतुश्शती महोत्सव मनाने का निश्चय किया है।

मानस संघ की स्थापना ही श्री रामचरित मानस के प्रचार प्रसार केलिये हुई है और रामवन तुलसी तीर्थ है। अतः निश्चय किया गया कि मानस संघ की ओर से रामवन में मानस चतुश्शती महोत्सव पूरे चार सौ दिन मनाया जाय। इस प्रकार महोत्सव का प्रारम्भ फाल्गुन कृष्ण ६ संवत् २०२६ (२६-२-७३) से ही हो जाता है।

विचार यह किया गया कि पूजन, पाठ, कथा, प्रवचन के अतिरिक्त मानस के प्रचार एवं अध्ययन को स्थायी आधार देने के लिये महोत्सव-काल में मानस-सम्बन्धी एक उत्तम पुस्तक प्रतिमास प्रकाशित की जाय।

'मानसमणि' में 'मानस' के प्रत्येक काण्ड के मंगलाचरण के श्लोकों पर श्री 'चक्र' जी की व्याख्या 'प्रकाश-पथ' नाम से पहिले प्रकाशित हुई है। मानस-पीयूषकार को यह इतनी महत्व की जान पड़ी कि उन्होंने अपने 'मानस-पीयूष' के दूसरे संस्करण में इसका अधिकांश संकलित कर लिया। महोत्सव के उद्घाटन पर्व पर इसे 'मानस के मंगलाचरण' नाम से मानस चतुश्शती माला के प्रथम पुष्प रूप में पाठकों के करों में देते मुझे विश्वास है कि यह प्रयास सब को प्रिय होगा।

—प्रकाशक

मानस चतुश्शती माला-पुष्प—१

मानस के मंगलाचरण

(प्रकाश पथ)

●

व्याख्याकार

सुदर्शनसिंह 'चक्र'

●

फाल्गुन कृष्ण ६ सं० २०२६ वि०
प्रथमावृत्ति] २६ फरवरी सन्–१९७३ [मूल्य–२)

प्रकाशक—

मानस संघ

पो०—रामवन (सतना) म० प्र०

मुद्रक—

सुषमा प्रेस

सतना, म० प्र०

मानस चतुश्शती की भेंट–१

मानस चतुश्शती महोत्सव रामवन में पूरे ४०० दिन चलेगा। इस महोत्सव के उपलक्ष में मानस संघ श्रीरामचरित मानस सम्बन्धी ग्रन्थ प्रकाशित करेगा। उसमें से यह पहिली भेंट महोत्सव के प्रारम्भ के दिन फाल्गुन कृष्ण ९ संवत् २०२९ (२६ फरवरी १९७३) को आपके हाथों में पहुँच रही है। प्रयत्न किया जायगा कि प्रत्येक महीने के विशेष उत्सव के दिन एक ग्रन्थ दिया जाय।

विनीत—

शारदाप्रसाद

मन्त्री

मानस संघ, रामवन

समर्पण

श्री रामचरित ही जिसका जीवन है,
संयम है और प्राण है,
उन पवन पुत्र के पावन पाद पद्मों में।

उनके सहज स्नेह का कांक्षी—
—सुदर्शनसिंह

दो शब्द

'मानसमणि' में कोई मानस के सम्बन्ध में व्याख्यात्मक निबन्ध चलते रहना चाहिये, ऐसा विचार पहिली बार रामवन आते ही मंत्री जी तथा हमने किया। 'विनय-पीयूष' पुस्तकाकार प्रकाशन के लिये सम्पादक जी ने मंगा लिया था। मैंने एक साहस कर लिया। श्री रामचरित मानस के प्रारम्भिक श्लोकों पर कुछ लिख डाला। सभी श्लोकों पर उसी समय लिख डाला। क्रमशः वे 'मानसमणि' में छपते रहे। आज वे एकत्र रूप में आपके सम्मुख हैं।

मैंने श्री रामचरित मानस का विशेष अध्ययन नहीं किया है। सम्प्रदाय परम्परा से तो मेरा नाम मात्र का भी परिचय नहीं है। इतना होने पर भी मैंने एक साहस कर लिया था। उदार पाठकों ने अपनी उदारता से उसे प्रश्रय दिया। मानस-पीयूषकार ने इसमें से बहुत अंश 'मानस-पीयूष' के द्वितीय संस्करण में ले लिया, इसी से मैं उसे संग्रह रूप देने का साहस कर सका हूँ।

मानस तो रत्नों की खानि है। प्रत्येक पद, प्रत्येक चौपाई प्रत्येक पंक्ति महासागर है। जितना डूबेंगे, उतने रहस्य मिलेंगे। उतने रत्न मिलेंगे। मैंने तो ये कुछ सीप रख दिये हैं। क्योंकि मेरी डुबकी बहुत हलकी है। फिर भी ये रत्नों के सीप हैं। इसी से आपको इनमें चमक और आकर्षण जान पड़ता है। आप अधिक गहरी, अधिक टिकाऊ डुबकी लगावेंगे तो आपको उज्वलतम रत्न प्राप्त होंगे।

मेरे पास साधन नहीं थे। डुबकी लगाने के लिये लकड़ी, पत्थर, पोशाक आदि चाहिये। जिनके पास साम्प्रदायिक सिद्धांतों का दार्शनिक ज्ञान है, जिन्होंने मानस एवं मानस संबंधी

शास्त्रीय ग्रन्थों का अध्ययन किया है, वे डुबकी लगावें तो मुझसे कहीं अधिक सफल होंगे। लेकिन डुबकी तो लगानी ही होगी। इधर उधर किनारे फिरने से तो कौड़ी घोंघे ही मिलेंगे।

डुबकी लगाने की एक ही पद्धति है। एक दोहे, चौपाई या श्लोक को कंठ कर लीजिये। पुस्तक को लेकर काम नहीं चलता। कंठ करके मन ही मन उसकी आवृत्ति कीजिये और मन में उस पर दो चार घंटे मनन कीजिये। कागज पेन्सिल आवश्यक हो तो साथ रखिये और आवश्यक हो तो विशेष बातें नोट करते जाइये। लेकिन यह नोट करने का झगड़ा बीच में न करें तो अधिक अच्छा होगा। मनन में व्याघात न पड़ेगा। इस प्रकार जो भाव, जो रहस्य प्रकट होंगे, वे अद्भुत होंगे।

श्री हनुमान जी की कृपा से, उनका स्मरण करते हुये आप कुछ चाहेंगे दीन भाव से तभी मिलेगा। अहंकार को शिथिल किये बिना कोई भी अन्तर के अनन्त ज्ञान भण्डार से एकात्मता स्थापित करने में समर्थ नहीं होता। यह एक उज्वल सत्य है और इसकी उपेक्षा असफलता का कारण होती है।

मैंने यह सब किया है—ऐसा कुछ नहीं। मैं तो प्रतीक्षा कर रहा हूँ कि मानस पर मनन करने वाले कोई मुनि और उसके मन्त्रों के दर्शन करने वाले कोई ऋषि मानस संघ को प्राप्त हों। यह तो एक बाल कौतुक है मानस प्रेमियों के मनोरंजनार्थ। अपना मनोरंजन करने वाले बाजीगर को भी आप कुछ देते हैं न? तब इस बालक को कुछ न देंगे? मुझे चाहिये आपका आशीर्वाद!

आपका नम्र सेवक—

सुदर्शनसिंह

प्रकाश-पथ

मेरी छोटी समझसे मङ्गलाचरण केवल कुछ स्तुति नहीं हैं। उनमें एक शक्ति होती है। उनसे एक प्रकाश आता है जो ग्रन्थ-कारको अपने पथपर प्रगति देता है। इसी प्रकाशके सहारे वह एक मोड़ (अध्याय) तक बढ़ा चला जाता है। रामचरित मानस में परमपूज्य गोस्वामीजी ने यह प्रकाश किस प्रकार प्राप्त किया है, यही देखना है।

"वर्णानामर्थ संघानां रसानां छन्दसामपि।
मङ्गलानां च कर्त्तारौ बन्दे वाणी विनायकौ ॥"

अक्षरों तथा उनके अर्थसमूहों, रसों, छन्दों और मङ्गलोंके कर्ता वाणी और विनायकको प्रणाम !' सीधासा अर्थ है।

अक्षरोंकी संख्यातो निश्चित है। भगवान शङ्करके डमरूसे निकले वे चौदह सूत्र सम्पूर्ण अक्षरोंको पूर्ण कर देते हैं। वे न हों तो मनुष्य भी एक अस्पष्ट संकेत करने वाला प्राणी रह जावे। गूंगे या पशुओं की भांति ही कुछ अस्पष्ट। मस्तिष्क की प्रौढ़ता अक्षरोंसे हुई और उन्होंने ही उसे अभिव्यक्त भी किया।

"वर्णा वै कामधेनवः" उनके अर्थोंका सचमुच संघ है। एक एक अक्षरके कई कई अर्थ हैं। जब उनसे शब्द बन जाता है और फिर शब्द समूह—तो अर्थों का क्या पूछना। रसोंकी संख्या यों तो नव कही जाती है, पर रसिक ही उसके निर्णायक हैं। छन्द शास्त्र विपुल है। नवीन छन्दों की सृष्टि सदा होती रही है और रहेगी।

मङ्गल मनका कार्य है। सुख-दुख मनके धर्म हैं। प्रत्येक व्यक्तिका मङ्गल पृथक पृथक है। परिस्थितिके अनुसार एक व्यक्तिके मङ्गलमें भी भेद माना जाता है। एक स्थान पर सबका समन्वय है। प्रभुके श्रीचरणोंमें पहुँचने में ही सबका मङ्गल है।

इन सबके कर्ता वाणी—हँसवाहिनी देवी शारदा वीणापाणि और तुन्दिल गणेश जी! प्रतिभा की देवी, नीर क्षीर विवेकी हंस पर आरूढ़, मृदुल मधुरतन्त्री से विश्वको झंकृत करने वाली शुभ्रवसना सरस्वती, वर्ण, अक्षर, छन्द, रसकी अधिष्ठात्री हैं। इस विषयमें किसी को कोई संदेह हो नहीं सकता।

भगति हेतु बिधि भवन बिहाई। सुमिरत सारद आवति धाई॥

श्री गोस्वामीजी अपने 'मानस' के प्रारम्भमें उन्हीं 'वर्णानामर्थसंघानां रसानां छन्दसामपि' की जननीका आह्वान कर रहे हैं। उनके मानसमें तनिक सावधानीसे पैर बढ़ाइये! वर्ण ही वर्ण नहीं, उनमें अर्थ संघ हैं। एक एक वर्ण सार्थक है और उसके भी कई अर्थ हैं। रससे वह भरा पूरा है और छन्द उसके आगे हाथ जोड़े खड़े हैं। प्रसंग छन्दके लिये नहीं, छन्द प्रसंगके लिये आये हैं। जब जी चाहा छन्दोंसे क्रीड़ा करली।

गणपति विघ्नेश, विनायकादि अनेक नाम हैं उन प्रथम पूज्य के। शङ्करजीके गणोंसे आप परिचित हैं या नहीं? सारे खुराफात की जड़ वे ही हैं। प्रत्येक शुभ कार्य के प्रारम्भमें ही सरसों छिड़कनी पड़ती है "अपसर्पन्तु ते भूता" गणपति उनके नायक हैं। वे तुष्ट रहें तो फिर कौन कान पूँछ हिला सकता है।

वेदोंमें गणेशजी को प्रधान विघ्नकर्ता देवता बताया गया है। पुराणोंमें वे मङ्गल मूर्ति होगये हैं। दोनों एक ही बात है। नियम है कि गति को बनाये रखने के लिये शक्तिकी आवश्यकता

नहीं। आवश्यकता अवरोधकशक्ति की है। प्रत्येक व्यक्ति मङ्गल चाहता है, उसीके लिये प्रयत्न करता है। यदि उसकी इच्छा का कोई अवरोधक न हो तो वह उसे प्राप्त कर लेगा। अवरोधकों का अधिष्ठाता स्वयं मङ्गल दाता होजाता है तुष्ट होने पर।

एक सहन शील सामञ्जस्यवादी शास्त्रोंके प्रति श्रद्धालु के नाते भी प्रथम पूज्य का प्रथम स्मरण आवश्यक था। योगशास्त्र की दृष्टिसे प्रथम चक्र मूलाधार है, उसके अधिष्ठाता हैं श्री गणेश जी और उसके जागरणका फल है प्रतिभा की प्राप्ति। प्रतिभाकी देवी का स्मरण करते हुये गोस्वामी जी उसी प्रथम चक्रके अधिष्ठाताको प्रणाम करते हैं।

यहाँ तक तो अर्थ और औचित्यकी बात हुई। वह प्रकाश कहां से अवतरित हुआ ? वही संक्षिप्त—तीव्र दृष्टि से देखें।

दिव्य नामों की जिनका अपने अर्थसे तादात्म्य सम्बन्ध है, बात मैं नहीं करूंगा। साधारणतया शब्द एक प्रकारका स्पष्ट संकेत है, जिसे उस भाषाके जिसमें वह बोला जाता है, बोलने वालोंने एक निश्चित भाव या एकाधिक निश्चित भावोंके लिये स्थिर कर लिया है। अतः शब्दके साथ एक भावका हृदयमें स्फुरण होता है। यही भाव उसका अर्थ है। यह भाव यदि व्यक्ति या पदार्थके रूपमें हुआ तो एक आकृति उत्पन्न करेगा और यदि भावके रूपमें हुआ तो काम क्रोध स्नेहादि कोई भाव उत्पन्न करेगा।

हमारा मन तटस्थ रहना नहीं जानता। कोई विषय चाहे किसी भी इन्द्रियका हो, सामने आते ही उसमें एक भाव अवश्य उसके प्रति होगा। फिर चाहे वह भाव प्रेमका हो या द्वेषका अथवा और भी कोई। इस प्रकार जो शब्द मूर्ति उपस्थित करते हैं, वे एक भाव भी उपस्थित करते हैं।

प्रत्येक क्रियासे कम्पन और प्रत्येक कम्पनसे आकृति बनती है। इस नियम के अनुसार शब्द एक अपनी स्वतः की सूक्ष्म प्रकृतिमें आकृति रखता है और वह आकृति मानव कल्पित है और प्रथमाकृति प्राकृति है। ऋषियोंने शब्दको उन्हीं आकृतियों का द्योतक रखा है जो उस शब्द की प्राकृति आकृति है। अर्थात् संस्कृत वाङ्मयमें वृषभ शब्द बैलकी प्राकृत आकृति रखता है और इसीसे ऋषियों ने उसे बैल बाचक ही बनाया। यह विशेषता और किसी भी भाषामें प्राप्त नहीं। अब आप समझ गये होंगे कि क्यों गोस्वामी जी ने मङ्गलाचरण देववाणीमें किये हैं।

एक शब्द, उसके भाव, उस भाव जन्य आकृति और आकृति से हमारा रागादि कोई सम्बन्ध साथ ही प्रकृतिके गुप्त रहस्यमें उसकी एक आकृति, उसका कंपन और हमारे मस्तिष्कपर उसका प्रभाव। इतने कार्य शब्दके होते हैं। देववाणीमें शब्दकी प्राकृत आकृति और भावगत आकृति होने से हमारे मस्तिष्क और हृदय एक ही धारा से प्रभावित होते हैं।

स्पष्टीकरण तो क्रमशः होता रहेगा, पर इतना और जान लीजिये कि प्रत्येक क्रिया, आकृति और भाव के एक एक अधिष्ठाता देवता होते हैं। यदि शब्दों की आकृतियां, भाव के आधार कल्पित आकृतियों में सामंजस्य हो तो अधिष्ठाता का रूप स्पष्ट हो जाता है और वह हमसे सम्बद्ध होकर हमें प्रभावित करने लगता है।

ऊपर के मङ्गलाचरण के श्लोक और उसके अर्थ के स्पष्टीकरण को अब फिर देख जाइये और देखिये कि किस प्रकार गोस्वामीजी ने क्या प्रभाव वाणी विनायक से ग्रन्थारम्भ में प्राप्त किया है।

"भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तः स्थमीश्वरम् ॥"

उन श्रद्धा एवं विश्वास स्वरूपी श्री उमामहेश्वर की हम बन्दना करते हैं, जिनके बिना अपने हृदय में ही स्थित परमेश्वर को लोग देख नहीं पाते ।

उस सर्वव्यापी के छः उपलब्धि पीठ हैं। दूसरे शब्दों में छः प्रकार से वह रहता है। सर्वत्र सर्व व्यापक रूप में, नित्य धाम में, अवतार रूप में, हृदय में, मूर्ति में और श्री गुरुदेव के रूप में। हृदयस्थ उस ईश्वर को आप श्रीराम कहें, वासुदेव कहें या ईश्वर कहें! राम शब्द बना है रमु क्रीड़ने से। इसका एक अर्थ होता है जो सभी अन्तः करणोंमें क्रीड़ा करता है। गीता के शब्दों में—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

वह सब के हृदय में रहता है। सबका एकमात्र संचालक वही है। पर—

अस प्रभु हृदय अछत अविकारी।
सकल जीव जग दीन दुखारी॥

ऐसा क्यों? क्योंकि हममें श्रद्धा नहीं, विश्वास नहीं। बिना श्रद्धा और विश्वास के वह जाना या देखा नहीं जा सकता। कोई भी अपने पिता को नहीं जान सकता, बुद्धि के किसी भी तर्क या प्रमाण से, इसके अतिरिक्त कि इस विषय में वह अपनी माता पर श्रद्धा करे और उसके बचनों पर विश्वास करे। फिर जगत्पिता को कोई बुद्धि श्रद्धा-विश्वासके बिना कैसे जान सकेगी?

"औरौ एक गुपुत मत, सबहिं कहउं करजोरि।
संकर भजन बिना नर, भगति न पावै मोरि॥"

श्रीमुख के इस सिद्धान्त को स्मरण रखिये। प्रेम के बिना—भक्तिहीन को तो वे प्रेमघन मिलते नहीं। भक्ति नहीं मिलती भगवान शंकर के भजन बिना। यही बात गोस्वामीजी ने कहा। श्रद्धा विश्वास के बिना वह हृदयस्थ ईश्वर देखा नहीं जाता और उसके मूर्त रूप उमामहेश्वर हैं।

श्री गोस्वामीजी को श्रीरामचरित मानस का प्रणयन करना है। यह भगवान शंकर के मानस की कृति है—

"रचि महेस निज मानस राखा।
पाइ सुसमउ सिवासन भाखा॥"

अपने मानस में ही उसका साक्षात् करना है। उस स्वान्तस्थ अवधेश को जानना नहीं, देखना है। उसकी ललित लीलाओं का साक्षात् वर्णन करना है। अतः इस समय केवल श्रद्धा-विश्वास ही पर्याप्त नहीं, श्रद्धा-विश्वास के अधिष्ठाताओं की कृपा आवश्यक होगई है। उन प्रथम वक्ता एवं श्रोताका स्मरण किया गया है।

"होहु प्रसन्न महेस भवानी।"

बिना श्रद्धा-विश्वास के तो मनुष्य स्वान्तस्थ ईश्वर को भी नहीं देख पाता। यह तो 'सुगम अगम नाना चरित' है। इसे तो 'सुनि मुनिमन भ्रम होइ।' अतः इसमें अनुराग तो भगवान शंकर एवं माता पार्वती की कृपा से ही होगा। वे ही कृपा करके कुतर्क जालका अपहरण कर लें तो उससे छूटकर इस चरित में श्रद्धा विश्वास हो। यदि यह होगया, तो फिर उस कौशल किशोर को प्राप्त करने में कसर ही क्या रह गई?

भवानी और शंकर श्रद्धा एवं विश्वास स्वरूपी हैं। समझने की बात बस इतनी ही है। श्रद्धा का अर्थ है आदर बुद्धि और

विश्वास का अर्थ है, जो कुछ जिस रूप में उपस्थित हो उसे वैसा ही मान लेना। उसमें तनिक भी शंका-संदेह न करना। शंकर-कल्याण तो स्वीकृति में ही है। विश्वास धोखा प्रायः नहीं देता। अविश्वास एवं तर्क ने मानव को उद्विग्नता के अतिरिक्त और क्या दिया है ? अन्त में उसे मानना ही पड़ता है। भवानी विश्व-विधात्री तो आदर बुद्धि स्वरूप हैं। परस्पर के सम्मान पर ही संसार स्थित है।

आप में कोई भी भाव ऐसा नहीं जो आपका हो। जिसकी उत्पत्ति आपके मन ने की हो। अनन्त आकाश में असंख्यों भाव स्तर हैं। आपका मन जिस स्तर में होता है, उसी के भाव को ग्रहण कर लेता है। आप यों समझिये कि मन एक निर्मल कांच की भाँति है। भावनाओं की रंगीन अपार सीढ़ियाँ हैं। मन उन पर लुढ़कता है। कोई शक्ति उसे ऊपर-नीचे लुढ़काती है। जिस सीढ़ी पर वह पहुँचता है, उसी के रंग का दीख पड़ने लगता है। किसी भी मन में ऐसी कोई बात न आई और न आ सकती, जो भावस्तर न हो।

प्रत्येक भावस्तर का एक अधिष्ठाता देवता होता है। प्रत्येक सीढ़ी का एक स्वामी होता है। कभी कभी एक स्वामी के विभिन्न नामों एवं रूपों से कई स्तरें अधिष्ठित होती हैं। जिस भाव में आपका मन होता है, उस भावस्तर के स्वामी-अधिष्ठाता देवता से वह सम्बन्धित होता है। यदि वह उसी भाव में स्थिर हो जावे तो उसके अधिष्ठाता देवता की प्राप्ति हो जायगी। इसी से प्रभु ने कहा है कि जो मुझे जिस रूप में चाहता है, मैं उसे उसी रूप में प्राप्त होता हूँ। जिस रूप में चाहने का अर्थ बड़ा सीधा है, मन में तो वही भाव आवेंगे, जिनकी भावस्तरें होंगी। प्रत्येक भावस्तरों के अधिष्ठाता हैं ही। अतः किसी भी भाव के अनुसार किसी को भगवद्दर्शन में क्या कठिनाई हो सकती है ?

अब स्पष्ट समझ लीजिये कि श्रद्धा-भाव की अधिष्ठात्री श्री पार्वतीजी हैं और विश्वास के अधिष्ठाता भगवान शंकर। इसी से उन्हें श्रद्धा एवं विश्वास स्वरूप कहा गया है। उनकी कृपा के बिना अन्तस्थ ईश्वर की प्राप्ति हुआ नहीं करती, वह सर्वसाधारण दृष्टि से गोस्वामी जो ने कहा है।

मानस को तो भगवान शंकर ने रचा है और भगवती पार्वती को सुनाया है। उसके ज्ञानके लिये उन्हीं की कृपा आवश्यक है। गोस्वामीजी कह रहे हैं कि श्रीराघवेन्द्र की लीला तो प्रत्येक हृदय में हो रही है, पर आपकी कृपा के बिना उसका प्रादुर्भाव होता नहीं। मैं उसके प्रत्यक्षीकरण के लिये आप दोनों की वंदना करता हूँ। मेरे हृदय में उसका प्राकट्य करें।

कैलाश जाकर साम्बशिव के न तो दर्शन करने हैं और न यही इच्छा है कि भगवान शंकर प्रगट होकर वह मानस सुना दें। यहां तो 'स्वान्तः सुख' की इच्छा है। हृदय में उसे देखना चाहते हैं। उस लीला पर अश्रद्धा एवं अविश्वास ही आवरक होते हैं। श्रद्धा विश्वास रूप भवानी शंकर कहकर गोस्वामी जी अपना अभिप्राय स्पष्ट कर रहे हैं कि मैं मानसिक भावों के अधिष्ठाता रूप में आपकी बन्दना करता हूँ, अतः उसी रूप में आप भी अश्रद्धा एवं अश्विवास को दूर कर मेरे मानस-नेत्रों के सम्मुख ही 'मानस' को प्रत्यक्ष कर दें। प्रकट होकर सुनाने की आवश्यकता है नहीं।'

पहिले श्लोक में विघ्नों की निवृत्ति एवं वाणी-वर्णन शक्ति प्राप्त करने के पश्चात् इस दूसरे श्लोक में वर्ण्य विषय के साक्षात करने की प्रार्थना की गई है। यह प्रार्थना वर्ण्यको मानव-जगत में मूर्त करने के लिये प्रकाश प्राप्ति के लिये है।

"बंदे बोधमयं नित्यं गुरुं शङ्कररूपिणम् ।
यमाश्रितो हि वक्रोऽपि चन्द्रः सर्वत्र वन्द्यते ॥"

ज्ञानमय, नित्य उस शिव स्वरूप श्री गुरुदेव की बन्दना करते हैं, जिनके आश्रय में रहने के कारण टेढ़ा होने पर भी चन्द्रमा सर्वत्र बन्दित होता है ।

पहिली बात यह कि गोस्वामी जी यहां भगवान शङ्कर को ही गुरुदेव मान रहे हैं । ऐसी स्थिति में ज्ञानमय तथा नित्य दोनों विशेषण उचित ही हैं । इससे पूर्व के श्लोक में वे उमा-महेश्वर से 'मानस' की प्राप्ति के लिये प्रार्थना कर चुके हैं । मानस के आदिकर्ता और उपदेष्टा भगवान शङ्कर हैं, उन्हीं की कृपा से गोस्वामी जी को वह प्राप्त भी हुआ है । अतएव यदि गोस्वामी जी भगवान शङ्कर को गुरु कहें तो आश्चर्य क्या ?

"रचि महेस निज मानस राखा ॥"

मानस के निर्माता तो भोले बाबा हैं ही उन्हीं के भरोसे गोस्वामी जी ने लेखनी भी उठाई है—

'सपनेहुँ सांचेहु मोहि पर, जौ हर गौरि पसाउ ।
तौ फुर होउ जो कहउँ सब, भाषा भनित प्रभाउ ॥'

इतना पक्का विश्वास श्री गुरु को छोड़कर और कहाँ होगा ? कहीं भी ऐसा वर्णन तो है नहीं कि गोस्वामी जी ने कभी शिव-पूजन किया हो । वे जन्म के राम भक्त हैं और श्री महावीर जी के कृपापात्र । फिर भगवान शङ्कर का यह दृढ़ विश्वास और—

'संकर साखि जौं राखि कहौं कछु तौ जरि जीह गरौ ।
अपनो भलो रामनामहिं ते तुलसिहिं समुझि परौ ॥'

यह आशुतोष की शपथ, श्री रामचरित मानस में आदि में शिव चरित तथा बार बार भगवान शङ्कर का माहात्म्य क्या यह नहीं बतलाता कि भगवान शङ्कर से गोस्वामी जी का गुरु-शिष्य का नाता है ? गोस्वामी जी ने जहां भी गुरु वन्दना की है, वहाँ अधिकांश इन योगीश्वर के श्रीचरणों का ही स्मरण है अस्तु—

शास्त्र कहता है—प्रतिमा में पाषाण बुद्धि, प्रसाद में भोग-बुद्धि और गुरु में मनुष्य बुद्धि नरक का कारण होती है। श्री गुरुदेव मनुष्य नहीं हैं। वे स्थूल शरीर में बद्ध नहीं हैं। वे नित्य हैं, अविनाशी हैं तथा ज्ञानमय हैं। उनमें अज्ञान एवं माया का लेश भी नहीं है। वे मनुष्य रूप में साक्षात् भगवान शङ्कर हैं। निश्चित रूप से गोस्वामी जी रामभक्ति के आद्याचार्य भगवान शङ्कर को मानते हैं। 'संकर भजन बिना नर' वाली श्रीमुख-वाणी भी यही बात बतलाती है।

श्री गुरुदेव शरीरधारी मर्त्य नहीं हैं। वे तो नित्य शाश्वत हैं। उनका यह शरीर तो प्रतीत सा होता है। यही सच्ची गुरु-भावना है। इस भावना को मानकर आप जिस शरीर में भी गुरु बुद्धि करेंगे, वे साक्षात् ज्ञानघन शङ्कर ही होंगे। उसे मनुष्य पूजा कहना अन्याय होगा। मानव के विकार एवं उसके दोष वहां पनप नहीं सकते। यदि वह व्यक्ति जिसे गुरु माना गया है, कोई निम्न वृत्ति का व्यक्ति भो हुआ तो उससे शिष्य की कोई हानि शक्य नहीं। क्योंकि शिष्य ज्ञानघन नित्य का शिष्य है, किसी नश्वर शरीर या किसी कलुषित अन्तःकरण की वासनाओं का सेवक नहीं। वह जानता है कि वहिर्मुख करने वाली आज्ञायें उसके गुरु शरीर के मुख से निकलें भी तो वे उसके श्रीगुरुदेव की न होंगी। वह तो किसी मर्त्य की बात होगी जो उसके गुरु हो नहीं सकते। वह दूसरों की आज्ञा भला क्यों मानने लगा ?

भगवान शङ्कर का आश्रित टेढ़ा चन्द्रमा भी विश्ववंद्य है। उसकी टेढ़ाई गई नहीं है। उसमें यह दोष रहते हुये भी लोग उसे प्रणाम करते हैं। यह बात यों ही नहीं कही गई। श्री गुरुदेवके आश्रित होनेपर सदोष-अज्ञ शिष्य भी विद्वानों द्वारा आदरणीय हो जाता है, यह सूचित किया गया। शिष्यमें योग्यता तो बहुत धीरे धीरे आती है। अनेक त्रुटियां अंत तक बनी रह सकती हैं, परन्तु उसका सम्मान तो प्रारम्भसे ही होने लगता है।

श्री गोस्वामीजी अपने श्रीगुरुदेव भगवान शङ्करसे इस श्लोक में सांकेतिक प्रार्थना कर रहे हैं। प्रभु आपके आश्रयमें रहकर टेढ़ा चन्द्रमा भी जगद्वन्द्य हो जाता है। मेरी वाणी भी सदोष है। उसमें अनेक त्रुटियां हैं। इतना सब होने पर भी वह वाणी आपके आश्रित है। आपही के रचित 'मानस' को मैं भाषामें कहने चला हूँ। अतः उसका विश्वमें आदर होना ही चाहिये। उसके दोष लोगों की दृष्टिसे अंतर्हित हो जाने चाहिये।

'मानस' के प्रारम्भमें गोस्वामीजी ने जो स्तुतियां की हैं, जो असमर्थता प्रकटकी है, वह न तो कृत्रिम है और न पाखण्ड। नम्र एवं सरल हृदय अपनेको सदा निर्बल समझता है। सफेद चद्दरका तनिकसा भी धब्बा दूरसे दीखता तथा अखरता है। यही निर्मलता एवं सरलता उस नम्रतामें प्रकट हो रही है। गोस्वामी जी को अपनी कृतिमें दोष ही दोष जान पड़ते हैं। विश्वास नहीं कि 'बुधजन' में उसका आदर होगा। इसीसे आशुतोष अपने गुरुदेवसे प्रार्थना करते हैं।

'श्री गुरुपद नख मनिगन जोती।
सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती॥'

गुरुदेवके पादारविन्दोंकी दिव्यनख किरण मालाका स्मरण करनेसे हृदयमें दिव्य दृष्टि होती है। ज्ञान कहीं बाहरसे नहीं आता। प्रत्येक अंतःकरणमें अनन्त ज्ञान है! प्रत्येक मस्तिष्कमें सब कुछ है। इसका प्रमाण यह है कि कई बार सिरमें चोट लगने पर आहत ऐसी भाषायें बोलने लगा और ऐसी बातें कहने लगा है जिसका उसे स्वप्नमें भी बोध नहीं था। मेस्मारोइजमें सम्मोहित पात्र भी कभी कभी विचित्र भाषा बोलने लगता है। ज्ञान का वह अपार कोष आवरित है। गुरुदेव कृपा करके उसके एकांशको जो आवश्यक है आवरण मुक्त कर देते हैं। उनके स्मरणसे भी यह आवरण दूर हो जाता है। इस आवरणका दूर होना ही दिव्य दृष्टि है।

इस दिव्य दृष्टिको प्राप्त कर लेना एक बात है और उसे शब्दोंमें प्रकट कर लेना दूसरी बात। प्रत्येक व्यक्ति उसे अच्छी प्रकार जो वह जानता है प्रकट करनेमें समर्थ नहीं होता। इसके लिये प्रतिभाकी आवश्यकता होती है। ज्ञात विषय को प्रकट करनेमें भाषा एवं शब्द-भाव संबंधी अनेक दोषों के कारण वर्ण्य विषय का रूप ज्ञातसे भिन्न हो जाता है। उसमें बहुत उलट-फेर एवं विकृतिकी सम्भावना हो जाती है।

दूसरे श्लोकमें गोस्वामीजी ने श्रद्धा-विश्वासरूपी उमा-महेश्वर से प्रार्थना की कि वे उस दिव्य 'मानस' को अपने मानसमें साक्षात् कर सकें। इस तीसरे श्लोकमें वह कह रहे हैं कि साक्षात् किये हुये विषयका मैं वर्णन करने जा रहा हूँ। इस कार्यमें शब्दादि त्रुटियों के कारण वर्ण्य विषय विकृत हुये बिना न रहेगा। फिर भी उसका आदर संसारमें होना चाहिये। क्योंकि वह भगवान शङ्करसे प्राप्त हुआ है और उनसे आश्रित तो टेढ़ा चंद्रमा भी जगद्वन्द्य होता है।

'सीतारामगुणग्राम पुण्यारण्यविहारिणौ ।
वन्दे विशुद्ध विज्ञानौ कवीश्वरकपीश्वरौ ॥

श्रीसीतारामजी के गुण-समूह स्वरूप पुण्य काननमें बिहार करने वाले विशुद्ध विज्ञानो आदिकवि महर्षि बाल्मीकि तथा कपीश्वर आंजनेयकी बन्दना करता हूँ।

दोनोंही युगल सरकारके गुण-गायक हैं। दोनोंका निवास वनमें है। एक का महर्षि होनेके कारण और दूसरे तो कपीश्वर ही हैं। 'ऋषयो मन्त्र द्रष्टारः' सो एक महर्षि ठहरे। उनके ज्ञान की शुद्धताका क्या पूछना। दूसरे 'ज्ञानिनामग्रण्य' हैं। अतः दोनों विशुद्ध विज्ञानी हैं। इसीसे दोनोंकी बन्दना एकही साथ कर दी गई।

'हिय निरगुन नयननि सगुन, रसना राम सुनाम ।
मनहु पुरट सम्पुट लसत, तुलसी रतन ललाम ॥'

गोस्वामीजीका यह आदर्श आत्मज्ञ है। वन्दनाके दोनों पात्र विशुद्ध विज्ञानी हैं। यह तो उनके हिय निरगुनकी बात होगई। उन्हें सीतारामसे मतलब है। अकेले 'राम ब्रह्म व्यापक जग जाना' के बदले योगमायाके साथ उनका सम्बन्ध पसन्द है। योगमायाको ही तो तटस्थ उपादान बनाकर वह निर्विकार अव्यक्त सगुण व्यक्त होता है। अतः 'सीताराम' उनके 'नयननि सगुन' को पूर्णतः सूचित कर रहा है। 'रसना राम सुनाम' की चर्चा बेकार है। वे 'गुण-ग्राम पुण्यारण्य विहारिणौ' हैं।

भगवान शङ्करकी बात छोड़ देनी चाहिये। उन्होंने तो अपने मानसको 'निज मानस' में ही रखा था। लोकमें तो श्रीराम-चरित के दो ही आदिकर्ता हुये। उसमेंसे भी महर्षि बाल्मीकि

की कृति ही प्रख्यात हुई। श्रीहनुमानजी ने तो अपनी कृतिको महर्षिके आग्रहपर समुद्रको समर्पित कर दिया। इसीसे दोनों आदि रामचरित गायकोंकी वन्दना एक साथ की गई और उसमें भी 'प्रथम कवीश्वर' ही स्मरण किये गये।

भगवान व्यासका काल महर्षि बाल्मीकिसे बहुत पीछे है। अतः उन्होंने चाहे भले श्रीरामचरितका वर्णन किया हो पर वे आदि आचार्यों में नहीं आते। भगवान शंकरके पश्चात तो इन्हीं कवीश्वर एवं कपीश्वर की गणना हो सकती है। वेदके वर्णनोंको घसीटना नहीं चाहिये। श्रुति नित्य है। कालसे परेकी वस्तु है वह। उसमें अवतार चरित न होकर नित्यधामकी नित्य लीलाओंका वर्णन है। यदि अवतार चरित है भी तो उतना ही, जितना कि बिना फेरफार के नित्य रहता है। प्रत्येक कल्प में होता है।

गोस्वामीजी को स्वयं श्रीसीतारामका गुण-गान करना है। वे भी उसी पुण्यारण्यमें विहार करना चाहते हैं। अतएव वहांके दो आचार्यों का स्मरण करते हैं। यों तो वह गुण-ग्राम अरण्य है। उपवन नहीं कि उसमें प्रवेश करनेमें प्रतिबन्ध हो, किन्तु अरण्यमें भूलने-भटकने का भय भी तो है ही। अतः उस अरण्य के सुपरिचित दो मार्गभिज्ञोंसे प्रार्थना कर रहे हैं कि आप लोग हमें मार्ग-प्रदर्शन करें।

'मुनिन प्रथम हरि कीरति गाई।
तेहि मग चलत सुगम मोहि भाई॥'

अनुगमन करनेमें ही सुगमता है? अन्यथा तो उस अपार अरण्यका कोई ठिकाना है? कहीं आरपार है उस गुण-ग्राम राशिका? 'सुगम अगम नाना चरित' तो 'मुनि-मन-भ्रम' के भी

कारण बन जाते हैं। ऐसे दुरूह बनमें बिना पथ-प्रदर्शकके प्रवेश करना उचित नहीं हैं। पथ-दर्शक भी उस वनसे भली प्रकार परिचित होना चाहिये। अतः उसी अरण्यके विहार करने वाले पथ-प्रदर्शक गोस्वामीजी ने साथ लिये हैं।

कभी कभी सदा के निवास करने वालों को भी दिग्भ्रम हो जाया करता है। वे भी मार्ग भूल जाते हैं। यदि कहीं मार्ग-दर्शकको दिग्भ्रम हो जाय, जो एक दुर्गम बनमें अशक्य नहीं, तो सारा गुड़-गोबर ही हुआ समझिये। गोस्वामीजीके पथ-दर्शक विशुद्ध विज्ञानी हैं। ज्ञान तो भले मायावरित हो जाय, पर विज्ञान (अपरोक्ष ज्ञान) मायाच्छन्न नहीं हो सकता। फिर यहां तो विज्ञानभी विशुद्ध है। उसमें भ्रम हो ही कैसे सकता है। ऐसे विशुद्ध विज्ञानी पथ दर्शक हों; तब उस 'सुगम अगम' चरित में मोह या भ्रम न हो तब उस काननसे निस्तार हो एवं उसके सुमधुर फलोंका रसास्वादन हो।

ऐसे बीहड़ काननमें प्रवेश ही क्यों ? इसलिये कि वह पुण्य है। मायाकी अपवित्रता बिना उसमें प्रवेश किये दूर होती नहीं। उस पुण्यारण्य में प्रवेश किये बिना जीव इस कालुष्यसे त्राण पा नहीं सकता और जब तक यह मैल उसके ऊपर लदा है उसे भला शान्ति कैसे प्राप्त हो सकती है। इस मैलको लादे वह कैसे उस सर्वेश्वरके सम्मुखीन हो सकेगा !

'संकर-चाप जहाज, सागर रघुबर बाहुबल।
बूड़सो सकल समाज .... ॥'

उस बीहड़ पुण्यारण्यमें ऐसे कई दुर्गम स्थल आये। पथ-प्रदर्शक न होते तो गाड़ी अटक जाती। गोस्वामीजी पहिलेसे सावधान थे। उनके विशुद्ध विज्ञानी मार्ग-दर्शक ने बतला दिया–

'चढ़े जे प्रथमहिं मोहबस।' इसी बोहड़का ध्यान पहिलेसे मन में है। पुण्यारण्यमें प्रवेश करनेका लालच रोक नहीं सकते। मुनियों द्वारा कीर्तित सुगम-मार्ग लेकर भी भय लगता है। अतः गोस्वामीजी श्रीसीताराम गुण-गायक प्रथम दो आचार्योंसे पथ-प्रदर्शनकी प्रार्थना कर रहे हैं।

'उद्भवस्थिति संहारकारिणीं क्लेशहारिणीम् ।
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम् ।।

उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलयकी कारणभूता, क्लेशहारिणी, सर्वकल्याण प्रदायिनी श्रीरामप्रिया सीताजीकी बन्दना करता हूँ।

'जन्माद्यस्य यतः ।"

ब्रह्मसूत्र के इस सिद्धान्तमें ब्रह्मको सृष्टिका तटस्थ उपादान कारण माना गया है। वस्तुतः तो सृष्टि योगमाया का ही कार्य है। वही 'प्रभु रुख पाइ' इस जगत का सृजन करती हैं। ब्रह्माके रूपमें उन्हीं की विभूति निर्माण कार्य करती है। स्थिति करने के लिये उनकी बिभूति रमाके रूपमें व्यक्त होती है। भगवान विष्णु तो शेष-शायी हैं। पुरुष तो द्रष्टामात्र है। जगत की सृष्टि हुई है शारदा-प्रतिभा से। प्रतिभा ही नवनिर्माण करती है। ब्रह्मा में से प्रतिभा पृथक करदी जावे तो सम्भवतः वे कुम्हार का घड़ा भी न बना सकेंगे। स्थिति है लक्ष्मी से। पालन-पोषण श्री का काम है। स्पष्ट रूप से संसार में पालन का कार्य लक्ष्मी द्वारा हो रहा है। जिस शक्ति के बिना शिव शव हो जाते हैं, वही नृमुण्ड-मालिनी चामुण्डा प्रलय करती हैं। शिव तो केवल प्रतीकमात्र हैं। विनाश तो करती हैं वे कालिका महाशक्ति। शारदा, रमा तथा काली ये तीनों उसी योगमाया की अंशभूता विभूति हैं। इन रूपों में वही संसार का निर्माण पालन तथा विनाश करती हैं। वह योगमाया ही सीता हैं।

वह योगमाया क्लेशहारिणी हैं। उनके बिना क्लेशों का आत्यन्तिक नाश भला कौन करेगा। वे 'विद्या' स्वरूप हैं। 'अविद्या' के कारण जीव इस आवागमन रूप महा-क्लेश में

पड़ा है। इससे परित्राण 'विद्या' द्वारा–उन दयामयी योगमाया की कृपा से होता है। 'जोइ बांधै सोइ छोरै' जिन्होंने इस भव-चक्र का प्रवर्तन किया है, जो उसका रक्षण करती हैं तथा मिटा भी डालती हैं, वही इससे परित्राण भी प्रदान करने वाली हैं। परित्राण करने की शक्ति उनमें ही हो भी सकती है।

वे सर्व श्रेयस्करी हैं। प्रेय तो यह संसार है। इसकी तो वे कर्त्री, रक्षिका एवं हर्त्री हैं ही। यहाँ जो कुछ मिलेगा, उनकी कृपा से ही। श्रेय—इस जाल से छूटकर परमधाम की प्राप्ति भी उन्हीं की कृपा से होती है। सभी प्रकार के श्रेय—निर्वाण, सालोक्य, सायुज्य, सारूप्य तथा सामीप्य प्रभृति सभी मुक्तियां ज्ञान वैराग्य तथा भक्ति भी उन्हीं की कृपासे प्राप्त होती है।

वे रामवल्लभा हैं। प्रभु को अत्यन्त प्रिय हैं। उन्हीं की कृपा होने पर प्रभु भी कृपा करते हैं। वस्तुतः तो प्रभु निर्विकार, तटस्थ, समदर्शी, उदासीन हैं। उन्हें किसी पर न रोष है और न कृपा। लेकिन योगमाया उन्हें अत्यन्त प्रिय हैं। जब वे किसी पर कृपा करके उसे प्रभु के श्रीचरणों में उपस्थित कर देती हैं तो प्रभु को स्वीकार कर ही लेना पड़ता है। अपनाना प्रभुके श्रीचरणों तक पहुँचाना कृपा करना उन्हीं का काम है। प्रभु निखिल कल्याण गुणगणैक धाम हैं। निर्गुण होते हुये भी उन्हीं अपनी वल्लभा के प्रेमवश ही तो हैं।

'मां, तुम संसार की सृष्टि करने वाली हो! मैं श्रीरामचरित का गान करने जा रहा हूँ, मेरे हृदय में भाव सृष्टि करो! तुम विश्व पालिका हो, मेरी प्रतिभा का पालन करो। तुम प्रलयंकरी हो, मेरे आलस्य प्रमाद प्रभृति का नाश करो। ऐसा करो मां,

जिसमें मेरी यह सृष्टि बने, रक्षित हो एवं इसकी बाधाओंका नाश हो।'

'मां, तुम्हीं क्लेशहारिणी हो! भवके अनेक दैहिक दैविक भौतिक एवं मानस क्लेशों से सदाके लिये परित्राण प्रदानार्थ मैं यह राघवेन्द्र कथा-सुधा-श्रोत प्रवाहित करने जा रहा हूँ। जीवों का क्लेश इससे सर्वदा को दूर हो जायगा। यह तुम्हारा ही तो काम है। अतः इसमें मुझे कोई क्लेश बाधा न दे सके। उसका हरण करना!'

'सर्व श्रेयस्करी मां! समस्त श्रेयका पथ प्रशस्त हो जायगा इस पथ से। तुम्हारा काम सरल हो जायगा। अतः सहायता करो! अपनी अपार कृपाधारा इधर प्रवाहित करो। आशीर्वाद दो कि जो इस 'सर' में आ जावेगा, उसका सर्व श्रेय तुम साधित कर दोगी।'

'यह सब तुम्हें करना होगा। तुम रामवल्लभा हो! यह तुम्हारे परमश्रेष्ठ का चरित है। इसमें तुम पूर्ण सहायता अवश्य ही दोगी। हाँ यदि भूलें हो जावें तो क्षमा कर देना। क्योंकि तुम सीता हो माँ! क्षमामयी भूमिकी तुम पुत्री हो।'

इस श्लोक में उन जगदीश्वरी से गोस्वामी जी ने यही प्रार्थना की है। इसमें उन्होंने कहां से और कैसे शक्ति ली है, क्या यह भी अभी बताने को शेष रह गया है? महाशक्ति योग-माया से सीधे अंतर का प्रेम तार जा लगा है। सीधे केन्द्रसे ही शक्ति मांगी जा रही है।

एक प्रकार से प्रार्थना यहीं बालकांड की समाप्त होती है। आगे के दो श्लोकों में से एक में वर्ण्य के स्वरूप का वर्णन करेंगे और दूसरे में अपनी वर्णन शैली बतावेंगे। उन दोनों से पाठकों

के लिये प्रकाश पथ प्रशस्त होता है। अपने लिये तो यहीं तक पथ प्राप्ति की पूर्णता हो गई। अतः सभी श्लोकों पर एक विहंगम दृष्टि डाल लीजिये।

पहिले श्लोकमें वाणी–सरस्वती से वर्ण, अर्थ संघ, रस, छन्द की मांग करते हुये गणेशजी से कहा गया कि अपने गणों को सम्भाले रहें। कोई विघ्न न करने पावे। आप मङ्गल करें। दूसरे श्लोक में श्रद्धा विश्वास रूप श्री उमामहेश्वर से अंतःकरण में उस दिव्य लीला के दर्शन कराने की प्रार्थना की गई। तीसरे श्लोक में गुरुदेव रूप में भगवान शङ्कर से कहा गया कि अब उस अन्तःकरण में देखी हुई लीलाका मैं वर्णन करने चला हूँ। आप आशीर्वाद दें कि मेरे प्रमादवश जो दोष आ जावें, उधर ध्यान न देकर लोक में इसका आदर हो। चौथे श्लोक में महर्षि बाल्मीकि एवं श्री महावीर जी से पथ प्रदर्शन की प्रार्थना की गई।

अब इस पांचवें श्लोकमें गोस्वामीजी कहते हैं जगन्माता से कि आप इसमें सहायता करके इसे निर्विघ्न पूरा करा दें। श्री-गणेश जी तो केवल अपने गणों के उपद्रव से ही रक्षा करेंगे। प्रारब्धवश जो रोगादि और विघ्न आ सकते हों, उन्हें आप रोके रहिये। आप क्लेशहारिणी हैं। संसार की 'उद्‌भव' स्थिति संहारकारिणी होने से इसमें समर्थ भी हैं और हे सर्व श्रेयस्करी यह परम श्रेयस्कर कृत्य भी है। अतः कोई भी प्रारब्धादि इसमें विघ्न न कर पावें। ऐसी आप कृपा करें।

'यन्मायावशवर्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवासुरा,
यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाहेर्भ्रमः,
यत्पादप्लवमेकमेव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावतां,
वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम् ॥'

ब्रह्मादि देवताओं सहित सम्पूर्ण विश्व जिसकी माया का वशवर्ती है, रस्सीमें सर्पकी भांति यह सम्पूर्ण दृश्य सत्य न होने पर भी जिसकी सत्तासे सत्यसा प्रतीत है, संसार सागर से पार होने वालों के लिये एकमात्र जिसके श्रीचरण ही नौकाका काम देते हैं, उस समस्त कारणोंके परम कारण रामनाम वाले श्रीहरि की हम बन्दना करते हैं।

सम्पूर्ण विश्व, ब्रह्मादि देवता उसीकी योगमायाके वशमें हैं। वही इन सबका संचालक है। उसीके अलक्षित संकेतसे विश्वकी सब क्रियायें हो रही हैं। वह न चाहे तो कोई भी कुछ करनेमें समर्थ नहीं।

'नट मर्कट इव सबहिं नचावत।
राम खगेस वेद अस गावत ॥

इस सबहिं की सीमा 'आब्रह्म भुवनात्' है। ब्रह्मलोक तकके सब लोक उसीकी इच्छा-पराधीन नियोजित कर्तव्यका वहन कर रहे हैं।

जैसे अंधेरेमें पड़ी हुई रस्सी सांप प्रतीत होती है और वह प्रतीति भय-कंप प्रभृतिका कारण होती है। उस समय रस्सी नहीं, सचमुच सांप ही ज्ञात होता है। वैसे ही यह समस्त दृश्य जगत प्रतीति मात्र है। उस परमतत्व की सत्यताके कारण ही प्रतीत हो रहा है। वही रस्सी स्थानीय सत्यतत्व है।

जासु सत्यता ते जड़ माया ।
भास सत्य इव मोह सहाया ॥

जिसके सत्य होनेसे यह जड़ माया सत्यसी–अमृषा जैसी प्रतीत होती है। वस्तुतः वह सत्य है नहीं। वह केवल सत्य जैसी प्रतीत ही हो रही है। जब वही सत्य नहीं है तो उससे दुःख, बन्धन प्रभृति कैसे हो सकते हैं? रस्सीमें सांपका भ्रमभी तो भय, कम्प तथा तीव्र भयमें ज्वरादिका कारण हो जाता है।

'जदपि मृषा तिहुँकाल महं।
भ्रम न सकै कोउ टारि॥'

माया तीनों कालोंमें असत्य है। वह न है, न थी और न हो सकती है। इतने पर भी उसके होने का भ्रम कोई टाल नहीं सकता। जब तक भ्रम न टले, तब तक तो 'संसृति मूल मोह-मद नाना' लगे ही रहेंगे। जन्म मृत्यु का चक्र चलता ही रहेगा। इस भ्रम को मिटाना ही परम पुरुषार्थ है।

मायाके दो रूप गोस्वामीजी ने बतलाये हैं—

'मैं अरु मोर तोर तैं माया।
जेहि बस कीन्हें जीव निकाया॥'

यह जीवकृत माया है। यह मैं हूँ, यह मेरा है। यह तुमहो, यह तुम्हारा है। इस प्रकारकी भावना जीवने ही की है। यही माया तीनों कालमें मृषा है। इसी भ्रमको हटाना है। किसी वस्तु या शरीर पर किसीका नाम नहीं लिखा। कोई भी पदार्थ किसीका नहीं। सब प्रभुके हैं। उसमें मैं और मेरा यह जीव का निर्माण है। उसीका अहंकार है। यह सर्वथा मिथ्या है। इसको मिटाने से आवागमन-चक्र समाप्त होता है।

'गो गोचर जहँ लगि मन जाई।
सो सब माया जानेहु भाई॥'

जहां तक इन्द्रियां जाती हैं, जो कुछ मन सोच सकता है, वह सब माया है। यह प्रभु की योगमाया है। यह किसी को बन्धनमें नहीं डालती। पदार्थ नहीं बांधते। उनमें अहंकार एवं आसक्ति ही बन्धक है। इस योगमाया का निवारण आप नहीं कर सकते। एक व्यक्ति पदार्थों को ब्रह्मरूप देखने लगे या एक भक्त 'सचराचर रूपरासि' में भगवन्तका साक्षात् कर ले तो स्वाभाविक है। क्योंकि योगमाया तो प्रभुका ही स्वरूप है। प्रभु से अभिन्न है। वे श्रीजानकीजी ही की रूप हैं। 'गिरा अर्थ जल बीचि सम' वे कहने भर को भिन्न, वस्तुतः प्रभुसे अभिन्न हैं। अतः उस अभिन्नमें प्रभुका साक्षात् स्वाभाविक है। लेकिन इससे पदार्थका अभाव नहीं होता। 'सर्वखल्विदं ब्रह्म' बोध होने पर भी भोजनके लिये रोटीही चाहिये, पत्थर नहीं। राम स्वरूप देखने पर भी वृक्ष मनुष्य न हो जायगा। वह वृक्ष ही रहेगा। यह ईश्वरकी योगमाया अनादि एवं नित्य है। उससे माथापच्ची करना व्यर्थ है।

मायासे परित्राण कैसे हो ? इसका उत्तर है कि उसी सर्वेश के श्रीचरणों का सहारा लेने से। उसके पादपद्म ही एकमात्र संसार सागरसे पार कर सकते हैं। और जितने भी साधन हैं, वे तो सब सापेक्ष हैं। उनके द्वारा उद्देश सिद्धिमें संदेह बना रहता है। निरपेक्ष एवं असंदिग्ध साधन तो उस सर्वेशके चरण कमलोंका आश्रय ही है। यही एकमात्र साधन है।

वह सभी कारणोंके परम कारण हैं। उनका कोई कारण नहीं। वे श्रीहरिः हैं। स्मरण मात्रसे चित्तको हरण करके अपने में लगा लेते हैं। पाप प्रमाद प्रभृतिका कारण हर लेते हैं। अतः उनके स्मरणसे ही भवाब्धिसे पार हुआ जा सकता है। वे हैं श्रीराम। श्रीअवधेश कुमार।

'राम ब्रह्म व्यापक जग जाना ।
परमानन्द परेस पुराना ॥'

वही सर्वकारण कारण परमेश, विश्व विश्रुत, परमानन्दघन, व्यापक ब्रह्म श्रीकौशलकिशोर श्रीराम हैं। इस व्यक्त सगुण सौंदर्य-माधुर्य मूर्तिके श्रीचरणों में अनुराग करके ही मनुष्य अत्यन्त दुस्तर इस संसारसे पार हो सकता है।

इस श्लोकमें गोस्वामीजी ने पाठकोंके लिये प्रकाशपथ प्रस्तुत किया है। प्रत्येक जीव सुख चाहता है—अबाध असीम सुख। वह सुख भला इस मायिक जगतमें कहां ? अतः इससे पार होकर ही उसे उपलब्ध करना होगा। इस संसारसे पार होना सरल नहीं। उसका एकही उपाय है। श्रीराघवेन्द्रके श्रीचरण रूपी नौकाका आश्रय। इस आश्रयकी उपलब्धिके लिये यह श्रीरामचरित-मानस निर्मित हुआ है। इसके पठन-पाठन एवं मनन से उन पादपद्मोंमें प्रेम होगा, जो भव-पाथोधिसे पार कर देगा।

यह सगुण चरित है। इसमें मुनियोंको भी भ्रम हो जाता है। इसीसे सावधान किये देते हैं कि श्रीराम साधारण मानव नहीं हैं, यह स्मरण रखना। उन्हींकी मायाके वशवर्ती ब्रह्मादि सब देवता तथा संसार है। शारदा मंथराकी मति उन्हींकी इच्छा से फेर गई और उन्हीं की इच्छासे देवताओंने चित्रकूटमें लोगों के मन में उचाट किया। उनकी इच्छा के विरुद्ध देवता कुछ नहीं कर सकते थे। उनकी सत्ता से तो यह जड़ जगत चैतन्यसा प्रतीत होता है। उनकी योगमायाने इस विस्वको चैतन्य प्रतीत कर रखा है। अतः भला उन पर मेघनादके मायासर्प प्रभाव डाल सकते थे ? यह तो उन्हीं की लीला थी। उनका पूरा चरित, रावण-युद्ध प्रभृति तथा सीता विलापादि केवल नाटक है। उन्हें नाटक करना प्रिय है। यह इतना बड़ा विश्व नाटक उन्होंने निराधार खड़ा कर दिया है। अतः उनके विशुद्ध रूप को जान-कर आगे बढ़ने से मोह न होगा।

'नानापुराणनिगमागमसम्मतं
यद्रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि ।
स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा
भाषानिबंधमतिमंजुलमातनोति ।।'

अनेक पुराणों, वेदों तथा तंत्रों द्वारा सम्मत एवं रामायण (बाल्मीकि) में कथित तथा कुछ और भी मिलाकर तुलसीदास अपने अंतः सुख के लिये मंजुल मति से यह श्रीरघुनाथ चरित (हिन्दी) भाषा में निर्मित करते हैं।

पुराणों की संख्या नाना है। अष्टादश महापुराण, अष्टादश उपपुराण ये छत्तीस तो हैं ही, माहात्म्य ग्रन्थ तथा और भी बहुत से ग्रन्थ जैसे नारद पांचरात्र, गर्ग संहिता प्रभृति पुराणोंमें ही गिनी जाती हैं। गोस्वामी जी ने रामायण एक वचन कहकर ज्ञात होता है कि श्री बाल्मीकि रामायण के अतिरिक्त दूसरी आध्यात्म, भुशुण्डि प्रभृति रामायणों को पुराण कोटि में गिना है। यही ठीक भी है। आज इतिहास की दृष्टि से वाल्मीकीय ही ग्रहण की जाती है।

कहने को तो वेद चार हैं। किंतु उनकी शाखायें सोलह सहस्त्र से भी ऊपर हैं आज जिन्हें वेद कहा जाता है, वे कुल पांच सात शाखा हैं। शेष सभी अप्राप्त हो गई हैं। प्रत्येक संहिता शाखा का एक उपनिषद एवं एक ब्राह्मण होता है। उपनिषद तो एक सौ तीस के लगभग प्राप्य हैं, पर ब्राह्मण उससे कम ही। मंत्र संहिता, उपनिषद एवं ब्राह्मणों को वेद कहा जाता है। इसीको निगम कहते हैं।

वेदों की भांति तंत्र ग्रन्थ भी अनादि हैं। जैसे वेद भगवान विष्णु की श्वास से प्रकट हुये हैं, वैसे ही तंत्र भगवान शङ्कर से। तंत्रों को आगम कहा जाता है। यह तांत्रिक संप्रदाय का मत है। कुछ विद्वानों का मत है कि पुराणादि में जो आगम शब्द है, वह तंत्रों के लिये नहीं आया है। वह वेद एवं पुराण के मध्य के ग्रन्थ, उपवेद, गृह सूत्र तथा स्मृतियों के लिये आया है। गोस्वामी जी ने इसी पिछले अर्थ में आगम शब्द का उपयोग किया है। क्योंकि वे एक विश्वासी सनातनधर्मी वैष्णव थे, अतः तंत्रों का अध्ययन या उनमें से कुछ संकलन उन्होंने किया होगा, ऐसा जान नहीं पड़ता। उन्हें अपने आराध्य के चिंतन को छोड़ तंत्रों के जाल में पड़ने की आवश्यकता थी नहीं।

श्रीरामचरितमानस में जो कुछ भी है, वह शास्त्र सम्मत है। नाना पुराण, निगम एवं आगम के अनुकूल हैं। उसमें न तो मनमानी है और न कल्पित सिद्धांत की भरमार। अवश्य ही बाल्मीकीय रामायण में जो कथा है, उससे कुछ और भी है। उस कथा में कल्प भेद से कुछ परिवर्तन हुआ है। यह सब भी शास्त्रों के आधार पर ही है। कुछ और भी है अपना भाव। फुलवारी और अयोध्याकांड का अज्ञात 'तापस' इसी कुछ और में हैं। ये प्रसङ्ग किसी ग्रन्थ से नहीं लिये गये हैं।

भाषा में इसकी रचना स्वांतः सुख के लिये हुई है। न तो काव्यकला प्रकट करने के लिये और न प्रसिद्धि के लिये। श्रीरघुनाथ हृदयेश हैं, परम प्रिय हैं। उनके गुण एवं लीला के चिंतन में हृदय को सुख मिलता है। अतएव इसी बहाने उन प्राणेश के गुण-लीला का चिंतन करके हृदय को आनंदित किया गया है।

मंजुल मति से इसका निर्माण हुआ है। किसी का न तो खण्डन करना था और न किसी का पक्षपात। आलस्य प्रमाद

के कारण कुंठित प्रतिभा होने पर बलात् तुकबंदी भी नहीं की गई है। बुद्धि शुद्ध थी। कोई स्वार्थ न था भगवान के गुणगान में आनंद आता था। इसी प्रकार शुद्ध सात्विक निरपेक्ष बुद्धि से इस रघुनाथ गाथा का निर्माण हुआ है।

वेदों में जो सूत्ररूप से सिद्धांत हैं, पुराण इतिहास के सत्य आख्यान के द्वारा उनका स्पष्टीकरण करते हैं। यही श्रीरामचरितमानस की शैली है। वेदों का सार सिद्धांत मानस के पात्रों के रूपमें साकार होगया है। इसीसे पहिले पुराण लिये गये। ये सब पात्र एवं उनके चरित पुराणों के हैं। जितने भी सिद्धांत 'मानस' में आये हैं, वे वैदिक हैं। वेद सम्मत है। आगम है आचार शास्त्र। स्मृति एवं गृह्य सूत्रों में आचार है। उपवेदों में समाजोपयोगी विद्यायें हैं। ये दोनों रामचरित मानस में आगम से आई हैं। स्मृतियों का आचार एवं उपवेदों की ज्योतिष-वैद्यक प्रभृति विद्याओं का समावेश उन्हीं मूल ग्रन्थों की सम्मति पर है।

श्रीबाल्मीकीय रामायण से गोस्वामी जी का श्रीरामचरित पूरा नहीं मिलता। इसका कारण है। कल्पभेद की कथाओं के कारण गोस्वामी जी ने दूसरे शास्त्रों से चरित लिये हैं। उनके श्रीराम उनके आराध्य हैं, केवल कथा नायक नहीं। इस कारण स्थान-स्थान पर उनके हृदयगत भावोंका उसमें समावेश होता गया है। यही बात उन्होंने 'क्वचिदन्यतोऽपि' में स्पष्ट सुझा दी है।

किसी एक रामायण को प्रमाण मानकर क्यों रामचरित नहीं लिखा गया? उसमें कुछ यहां कुछ वहां से संग्रह करने की क्या आवश्यकता थी? क्यों उसके लिये कोई ललित छंद न चुनकर साधारण दोहे-चौपाई जैसे छंद चुने गये? इन या ऐसे और भी प्रश्नों का समुचित उत्तर है और विद्वानों ने इस पर बहुत लिखा है, पर गोस्वामी जी का उत्तर इस पर बहुत सीधा

है। यह रचना समाज या समालोचकों के लिये नहीं हुई है। यह मैंने अपने हार्दिक सुख के लिये लिखी है। मुझे जिसमें आनंद आया, वह किया गया।

इसमें किसी सिद्धांत का यदि प्रतिपादन है, तो वह सत्य है। पक्षपातजन्य प्रतिपादन किसी का नहीं है। इसमें यदि किसी का खण्डन हुआ है तो वह मिथ्या का पाखण्ड का। द्वेष-वश किसी का खण्डन नहीं किया गया है। इसके सिद्धांतों एवं आचारों में प्रमादवश कोई भूल नहीं हुई है। यह निभ्रांत सत्य है। क्योंकि इसकी रचना विशुद्ध बुद्धि से हुई है। शुद्ध बुद्धिका स्वभाव है कि वह पक्षपात या द्वेष नहीं करती। उसके द्वारा केवल सत्य का समर्थन तथा पाखण्डका खण्डन होता है। उसमें प्रमाद नहीं होता। भ्रम नहीं होता। इसके द्वारा भूलें नहीं होती।

पाठकों को श्रीरामचरित मानस पढ़ते समय यह प्रकाश साथ रखना चाहिये। इसमें रचना विधि के सम्बन्ध में सूचित किया गया है। कहा जा रहा है कि पुराण-निगम एवं आगमों के वृहत् बन में कहां तक भटकोगे ? उसमें से रत्न निकाल लेना सरल नहीं। यहाँ उनका सार एकत्र है। अमूल्य रत्न एक ही स्थान पर राशिभूत किये गये हैं। चौंकोमत ! यहां आने का एक ही अर्थ है कि तुम्हें शास्त्रों पर श्रद्धा करनी होगी, उन पर विश्वास करना होगा। कल्पित सिद्धांतों एवं पथों के लिये यहाँ स्थान नहीं है।

'संशयात्मा विनश्यति। संशय मत करो ! संदेह और तर्क के लिये कोई स्थान नहीं है। जो कुछ भी है, अक्षर अक्षर, तिल तिल ज्यों का त्यों ठीक है। कहीं रुकने की आवश्यकता नहीं। यह निर्माण विशुद्ध बुद्धि का है ! श्रद्धा करो। विश्वास करो ! आंख मूंद कर अनुगमन करो ! विशुद्ध बुद्धि की कृति केवल उस

विशुद्ध धामतक पहुँचाने ही वाली होगी। उसमें पतन का कोई भय न होगा। इसके आश्रयणसे निश्चय बुद्धि शुद्धि हो जायगी। उस परमानंद त्रिमूर्ति की प्राप्ति में कोई भी बाधा इसका आश्रय लेने पर तुम्हें रोक सकने में समर्थ हो नहीं सकती।

'यस्याङ्के च विभाति भूधरसुता देवापगा मस्तके,
भालेबालविधुर्गले च गरलं यस्योरसि व्यालराट् ।
सोऽयं भूतिविभूषणः सुरवरः सर्वाधिपः सर्वदा,
शर्वः सर्वगतः शिवःशशिनिभः श्रीशंकरःपातुमाम् ॥

जिनकी क्रोड़ी में श्री पार्वती जी, मस्तक पर सुरसरि, ललाट में बालशशि, कण्ठ में हलाहल एवं हृदय पर सर्पराज शोभित हैं, वही ये विभूति भूषित, महादेव, सर्वेश्वर, सर्वस्वरूप, सर्व-व्यापक, कल्याणमय, चन्द्रोज्वल भगवान शङ्कर हमारी सर्वदा रक्षा करें।

भगवान शङ्कर अर्धनारीश्वर हैं। उन्होंने पार्वती जी को अपना आधा शरीर ही बना लिया है। सदा वे उनकी क्रोड़ी में–उनसे अभिन्न रहती हैं। वैष्णवों के परमाचार्य श्री भोलेबाबा ने अपने आराध्य का चरणोदक मस्तक पर धारण कर रखा है। गङ्गाजी को प्रभु का चरणामृत होने के कारण जटाओं से वे उतारते ही नहीं। उनकी चपलतरल कल्लोलें योगिराज की समाधि में कोई बाधा नहीं देतीं।

ललाट पर बालचन्द्रमा है। प्रतिपदाका चन्द्रमा इसी से दृष्टिगोचर नहीं होता कि उसकी एक कला भगवान शिवके मस्तक पर विराजती है। षोडशकला चन्द्रमा पन्द्रह दिन में ही क्षीण होता और पन्द्रह दिन में ही बढ़ता है। उसकी एक कला इस क्षय एवं वृद्धि से परे शम्भु शीश पर रहती है। वस्तुतः पूर्णिमा को भी चन्द्र होता पन्द्रहकला ही है। शरद पूर्णिमाको वह षोडशकला पूर्ण रहता है। कहते हैं, उस दिन भोले बाबा गोपी-

श्वर बनकर ब्रज की महारास में पहुँचे थे। तब से बराबर पहुँच जाया करते हैं। अतः उस दिन वह कला जो सिर पर रहती है, शशि को प्राप्त हो जाती है।

शङ्कर जी हैं ही नीलकण्ठ। सम्पूर्ण विश्व समुद्र-मन्थन से निकले महाविष से जला जा रहा था। लोक कल्याण के लिये उसे उठाकर आप पी गये और कंठ में धार लिया। कंठ नीला हो गया विष के प्रभाव से। हृदय पर सर्पराज लटकाये रहते हैं। आपको यही सर्पाभरण सबसे प्रिय है।

देवताओं में सर्वश्रेष्ठ वे देव देव सर्वेश्वर, जो सर्व स्वरूप हैं, सर्वव्यापी हैं, कल्याण स्वरूप हैं, अपने चन्द्र गौर शरीर पर विभूति मले गोस्वामी जी के सामने खड़े हैं। गोस्वामीजी सामने संकेत करके कहते हैं 'सोऽयं' वह ये भगवान शङ्कर सर्वदा, मेरी रक्षा करें।

यह अयोध्याकाण्ड का मङ्गला चरण है। आनन्दोत्सव बीत चुका है। अब वनवास की बारी है। त्रेता और कलियुग का भेद स्थूलता में है। गोस्वामी जी के मानस में तो त्रेत की अवस्थिति है। त्रेताकी कथा चल रही है और वे स्वयं भी आराध्य के साथ एक हो रहे हैं। बालकांड में तो जन्म विवाहादि आमोद था। अब सरकार के साथ बड़े बीहड़ बन में जाना होगा। पता नहीं वहां भोजन मिले या न मिले, जल मिले या न मिले। जङ्गल में भूख-प्यास लगे तो क्या होगा? अन्धकार, विषैली औषधियां, वन पशु, सर्पादि अनेक बाधायें वहां होती हैं। इन सब आपत्तियों में अब प्रवेश करना है।

गोस्वामी जी के मानस नेत्रों के सम्मुख विभूति लगाये चन्द्रोज्ज्वल भगवान शङ्कर खड़े हैं। अतः गोस्वामी जी उनसे

प्रार्थना करते हैं। 'माता अन्नपूर्णा आपकी गोदी में रहती हैं और गङ्गा जी मस्तक पर। क्षुधा पिपासा में आप बड़ी सरलता से मेरी सहायता कर लेंगे। अन्धकार में प्रकाश करने के लिये आपके ललाटपर चन्द्रमा हैं ही। आप तो हलाहल पी चुके और सर्पराज को पहिने हैं, अतः विषैली औषधियों तथा सर्पादि का निवारण आपके लिये विनोद रहेगा। इस प्रकार मेरे आधि-भौतिक कष्टों का निवारण आप करते रहें।

आप महादेव हैं, देवताओं के भी देवता हैं, सर्वस्व रूप है, अतः किसी भी स्थान के अधिष्ठाता देवता का यदि मुझसे प्रमाद या अज्ञानवश बन में कुछ अपमान हो जाय; जो कि असम्भव नहीं है, तो वह रुष्ट होगा और पीड़ा देना चाहेगा। आप उसे शांत करलें। उसे रोकलें और इस प्रकार आधिदैविक कष्टोंका निवारण भी आप करते रहें।

आप कल्याण स्वरूप हैं। शिव हैं, शङ्कर हैं। बनके कष्टों से मन घबड़ावेगा। अनेक प्रकार के सङ्कल्प विकल्प उठेंगे। अनेकों स्मृतियां चित्तको उद्विग्न करेंगीं। आप शशिनिभ हैं। मनका अधिष्ठाता चन्द्रमा हैं। आप भी वैसे ही हैं। आप मन में शांतिका संचार करें। उसमें कल्याण भावना जागृत करें। प्रभुके साथ चलना परम सौभाग्य है-यही जीवका परम कल्याण है। यह बात विस्मृत न हो। हे प्रभु, आप इस प्रकार मेरे आध्यात्मिक क्लेशों का निवारण करें।

आप सर्वगत हैं। सर्वव्यापी हैं। ऐसा कोई स्थान नहीं जहाँ आप न हों। अतएव सदा इसी प्रकार आप मेरे समीप सम्मुख ही रहेंगे। आप मेरी सर्वदा सब प्रकार से रक्षा करते रहें।

हैं तो योगीश्वर और सदा अङ्क में पार्वती जी रहती है। 'उमा पतित्वें सनिचांध्र्व रेत से' सम्पूर्ण ऊर्ध्वरेता हैं। नारी भी

एक नहीं, दो। एक अङ्क में और एक सिर पर। मस्तक पर सुधाकर और कण्ठमें गरल। हृदय में अपार करुणा और ऊपर सांप। लगायेंगे विभूति और हैं देव श्रेष्ठ सर्वेश्वर। ऐसी विषमता क्यों? क्योंकि वे सर्व स्वरूप हैं। विषमताओं के प्रतीक हैं। फिर भी वे स्वतः कल्याण स्वरूप हैं, सर्वव्यापक शुद्ध सत्वगुणकी मूर्ति चन्द्रोज्वल हैं। उनमें रज तथा तमका लेश नहीं। वही प्रभु सदा सर्वदा कल्याण करें! रक्षा करते रहें।

अयोध्याकांड की कथा पर ध्यान रखिये! भगवान शिवके रूप में पूरी कथा का प्रकाश प्राप्त हो गया है। जगज्जननी महलों में न रहेगी, वे तो पार्वतीकी भाँति सदा सङ्ग रहेगी। अन्ततः बन पर्वतों में भी तो जाना हैं। जिनके श्री चरणों से निकली सुरसुरि भगवान शङ्कर मस्तक पर रखते हैं, वे सुरसरि के उद्-गम बनकों पवित्र करेंगे। चरणों से निकलकर सुरसरि जटाओं में और हिमालय पर पहुँची तो उनके उद्गम भीं क्यों न बन पर्वतों में विचरण कर आवें।

मस्तक पर बालशशि है। विश्वको उज्वल कीर्ति से प्रकाशित करना है और मुनियों के संताप रूपी गरलको पी जाना है। ये व्यालराट् भगवान शेष के कारण स्वरूप लक्ष्मण कुमार साथ में क्या चले, हृदय पर निवास कर लिया उन्होंने। उनसे अधिक प्रिय भला और कौन प्रभु का होगा।

वह देवताओं से भी सम्मानित, अयोध्या का सर्वाधिप भस्मरमा चला। उस विपुल वैभव ने वल्कल पहिन लिये। वह अब नरेश ही नहीं रहा, अब तो वह सबका हो गया। कोल, भील एवं निषाद भी अब उसे पा सकेंगे। विश्व के कल्याण के लिये यह त्याग है। वह स्वयं आज शिव कल्याण स्वरूप हो गया है। आपने उन श्री राघवको घनश्याम ही देखा है। देखिये

तो आज वे कितने उज्जवल हैं। उनके अपूर्व त्यागने उन्हे चन्द्रोज्ज्वल बना दिया है। वही जगत की रक्षा के लिये साकेत से वन में प्रस्थान करने वाले कल्याणकारी (शङ्कर) सदा हमारी रक्षा करें। आज वे रावण से पीड़ित विश्वकी रक्षार्थ निकले हैं। अतः गोस्वामी जी भी उनसे रक्षा ही चाहते हैं।

दोनों ही रूपोंमें आगामी कथा के लिये पर्याप्त प्रकाश है वैसे ये स्थल अत्यन्त रहस्यमय होते हैं। प्रकाश प्राप्त करने वाला अपने प्रकाश पथको जब स्मृति बना लेता है और स्मृति सादृश्यके कारण किसी की स्तुति करता है तो यह जानना बड़ा कठिन होता है कि स्तुति एवं स्मृति में किस प्रकार का सादृश्य है। अतएव मैं यह नहीं कह सकता कि मेरा बताया सादृश्य ही ठीक है। अवश्य ही इसी प्रकार का सादृश्य होना चाहिये। भावुक भक्त पा सकते हैं।

"प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा,
न मम्ले वनवास दुःखतः ।
मुखाम्बुज श्री रघुनन्दस्य मे,
सदाऽस्तु सा मंचुल मङ्गलप्रदा ।।"

जो राज्याभिषेक के समाचार से प्रफुल्ल नहीं हुई तथा वनवास के दुख से मलीन नहीं पड़ी, वह श्री रघुनन्दन के मुखारविंद की शोभा हमारे लिये सर्वदा मंजुल मंगल-दायिनी होवे।

यह जगत द्वैधमय है। यहां द्वन्द हैं। सुख के साथ दुःख, हर्ष के साथ विषाद, राग के साथ द्वेष, शीत के साथ उष्ण, इस प्रकार परस्पर विरोधी स्थितियों का अनिवार्य चक्र यहाँ चलता रहता है। कोई स्थिति टिकती नहीं। विश्व का अर्थ ही द्वैध है।

क्या मंगल और क्या अमंगल ? जैसे दुःख बिना इच्छा एवं प्रयत्न के प्राप्त होता है, वैसे ही कर्माधीन, सुख भी बिना इच्छा एवं प्रयत्न के प्राप्त होकर ही रहेगा। उसके लिये उछलकूद एवं चिन्ता अज्ञानवश होती है। अतः उसके लिये किया गया प्रयत्न व्यर्थप्राय है। बहुधा वह असफल ही होता है।

प्रत्येक जीव सुख चाहता है। अबाध-अविच्छिन्न सुख चाहता है और दुःख की छाया से भी वह दूर रहना चाहता है। ऐसा सुख जगत में तथा जागतिक पदार्थों में कहां उपलब्ध हो सकता है ? वह तो इस द्वन्द से परे-द्वन्दातीत होने पर ही प्राप्त हो सकता है। नित्य सुख, शाश्वत मंगल तो उस मङ्गलमय के समीप ही मिल सकता है। वही प्राप्त होने वाला सुख वास्तविक सुख है।

गोस्वामी जी को मंजुल मंगल चाहिये। इस जगती का सुख एवं मङ्गल तो दुख तथा अमंगल की आशंका से म्लान रहता है। वह तो नीरसप्राय होता है। भला उसमें मंजुलता कहाँ? इस परमतत्व से एकाकार हो जाने को आप जीव का मंगल कह सकते हैं; पर मिश्री हो जाने में मंजुलता नहीं है। मंजुलता है मिश्री का रसास्वादन करने में। गोस्वामी जी उस आनन्दघनके सामीप्य का आनन्द चाहते हैं। वह सौन्दर्य माधुर्य का घनीभाव सदा सम्मुख रहे। यही मंजुल मंगल है।

ऐसा मंजुल मङ्गल सदा चाहिये। मन का स्वभाव ही चंचल है। वह एकत्र कहीं रहता नहीं अच्छी से अच्छी वस्तु से भी अन्ततः वह ऊब ही जाता है। अतः कहीं वह सरकार के समीप से भी भाग न आवे, इसी से पहिले कहे देते हैं कि मंजुल मङ्गल तो हमें सदा को चाहिये। उसमें व्यवधान न पड़े।

मंजुल मंगल सदा को दे कौन? श्री राघवेन्द्र का सान्निध्य तो उन्हीं की कृपा से प्राप्त होता है। वे साधन साध्य तो हैं नहीं। "यमैवेषवृणुते ते मे लभ्यः।" जिस पर वे कृपा करें, उसे ही प्राप्त होते हैं। लेकिन वे कभी तो नर-नाटक करके श्री महारानीजो के लिये विलाप करेंगे और कभी समुद्र पर रोष। ऐसी स्थितिमें उनकी नाट्य-लीला कहीं चित्त में विक्षेप न करे? अतः जो सदा एक-रस रहे, वही उस मंजुल मंगल को सदा दे सकेगा।

श्री कौशलेन्द्र की मुखश्री कभी म्लान नहीं होती और न उत्फुल्ल ही। वह सदा एक-रस रहती है। मुख मनुष्य के हृदय का दर्पण है। कोई भाव हृदय में है या उसका केवल नाट्य हो रहा है, इसकी सूचना मुखश्री ठीक ठीक दे देगी। श्री सरकार नाट्य तो चाहे जो भी करें, पर हैं तो वे एकरस आनन्दघन। उनकी मुखश्री उस नाट्य में भला क्यों भाग लेने लगी? वह तो

सच्चे स्वरूप के अनुसार ही रहेगी। अतः गोस्वामी जी उसी नित्य एक-रस सुखश्री का आश्रय सदा मंजुल मंगल को ले रहे हैं।

संत अपने सुख–दुख, मानापमान से ऊपर उठ चुके होते हैं। उन्हें उधर ध्यान देने का अवकाश नहीं होता। 'पर दुख द्रवहिं संत सुपुनीता' वे दूसरों के दुःख से कष्ट पाते हैं। उन्हें दूसरों की पीड़ा असह्य हो जाती है। उसे दूर करने के लिये वे बड़े से बड़ा त्याग कर सकते हैं। तिस पर यदि कहीं आराध्यही कष्ट का नाटक करने लगें तो ? ऐसे समय भावुक भक्त हृदय की क्या गति होगी ?

प्रभु अयोध्या का देव–दुर्लभ ऐश्वर्य छोड़कर वन में जा रहे हैं। उस सजल जलद पल्लव मृदुल श्यामांग पर जो विद्युदाभ कौशेयाम्बर वेष्टित रहता था, कठोर वल्कल उन्होंने लपेट लिया है ! रत्न जटित मुकुट कहाँ ? वे सुगंधित तैल सिक्त घुंघराली अलकें बरगद के दूध से चिपका कर जटा बना दी गईं। कहां है वह दुग्ध फेन सी शय्या ? आप तो कुश-साथरी पर पड़े हैं ?

वह कमलारुण चरण और कुश-कंटक-कंकड़ियों से भरा बीहड़ पथ ! हे प्रभु, क्या होगा ? श्री महरानी जी भी नंगे पैर हैं। श्री भरतलाल के हृदय का सबसे बड़ा दुःख यही तो था कि प्रभु नंगे पैर वन में चलते हैं। आतप–वर्षा–वात में पर्णकुटी या तरुछाया में वे सर्वेश यों ही बिता रहे हैं।

मांगना तो सरल था–शंकर जीसे मांग लिया कि उस दिव्य लीला को आप मेरे मानस में प्रत्यक्ष कर दें ! मैं उसका दर्शन करते हुये वर्णन करूँगा ! भोले बाबा तो भोले ही ठहरे। उन्होंने एवमस्तु कह दिया। लीलाओं का प्रत्यक्षीकरण हो गया।

गोस्वामी जी ने उन्हीं अन्तर में साक्षात की हुई लीलाओं का वर्णन किया है। विवाह तक बड़ा आनन्द था। बड़े उल्लास से लेखनी चलती गई। अब अयोध्या प्रवास आया है।

कौन सा हृदय है जो अपने आराध्य को इस उपरोक्त दशा में देखकर भी विक्षिप्त न हो उठेगा ? किस वज्र को अपनी सुधि रहेगी ? चरित्र का लिखना या वर्णन करना तो बड़ी दूर की बात है। यहाँ आकर जो होश ही गुम हो जाते हैं। भले ही वह नाटक हो, पर जिसका यह जगत ही नाटक है, वह क्या ऐसा वैसा नाटक करेगा ? साधारण मानव भी जब कुशलतापूर्वक नाटक करता है तो दर्शक आत्म-विस्मृत हो जाते हैं और उसे वास्तविक मान बैठते हैं। उस निखिल लीलाधर के नाटक में सावधान कौन रह सकेगा ?

यहाँ आकर गाड़ी अटकती दीखती थी। इस विषादान्धकार में कैसे प्रकाश मिले और गुणगान चलता रहे। यही प्रकाश मुखाम्बुज श्री में प्राप्त हुआ है। वह सदा एक-रस रहने वाली मुखाम्बुज श्री दृष्टि में रहे तो फिर क्या ? फिर तो नाटक की पोल सामने खुली रहेगी। हृदय में उस एक-रसता का ध्यान बना रहेगा। नाटक चाहे जितना करुण हो जावे, वह मनोरंजन ही करेगा ! उससे कष्ट या विस्मृति न होगी।

यही हुआ भी ! जहाँ कहीं सरकार ने अधिक गहरा स्वांग लिया है, वहीं गोस्वामी जी अपने पाठकों को भी सावधान करते गये हैं। उन्हें तो मुखाम्बुज श्री ने सदा मंजुल मंगल प्रदान कर दिया। अतः वे भला क्यों विस्मृत होने लगे ?

उस करुण नाट्य को देखकर एक बार हृदय को विक्षिप्त बनाकर सावधान होने में क्या बुद्धिमानी होती ? यह तो ज्ञात

ही था कि अब आगे क्या दृश्य आने वाला है। अतः आरम्भमें ही गोस्वामी जी ने अपने नेत्र श्रीमुख पर स्थिर कर लिये हैं। वे अब एकटक मुखाम्बुजश्री देखते रहेंगे जिसमें सरकार का नाटक उन्हें विस्मृत न कर दे।

नीलाम्बुज श्यामल कोमलाङ्ग,
सीता समारोपित वाम भागम् ।
पाणौ महायायक चारु चापं,
नमामि रामं रघुवंशनाथम् ॥

नीले कमल के समान श्यामल मृदुल शरीर, वाम भाग में शोभित श्री विदेह-नन्दिनी, हाथ में महा शर एवं सुन्दर धनुष (इस प्रकार के मनोहारी वेष) लिये रघुवंश के स्वामी श्रीरामको (हम) प्रणाम करते हैं।

इन्दीवर (नीलकमल) के समान श्यामल वर्ण है प्रभु का। कमलों में सबसे सुन्दर इन्दीवर ही होता है। यह नीलकमल मदन का पंचम सम्मोहन वाण है। इसमें एक मादक सौन्दर्य होता है। प्रभुका श्री अंग बड़ा मनोहारी है। दृष्टि पड़ते ही वह मन को मोहित कर लेता है। मन अपने वश में नहीं रह जाता। जिसने भी उस इन्दीवराभ को देखा, वह उस पर सम्मोहित हुये बिना रह नहीं सका। मदन का पंचम सम्मोहन वाण भी तो अमोघ है।

नीलकमल देखने में बड़ा सुन्दर होता है। पर उसकी पंखुड़ियाँ कोमल नहीं होती, कमल के दल स्पर्श में चीमड़ होते हैं। वे वर्ण की दृष्टि से ही श्रेष्ठ हैं। श्री राघवेन्द्र का वर्ण तो इन्दीवर के समान नील एवं सन्मोहक है, लेकिन स्पर्श में वह उसीके समान चीमड़ नहीं। वह तो कोमल है। अत्यन्त मृदुल है। यही सूचित करने के लिये कोमल आया है।

चित्रकूट में पर्णकुटी के बाहर स्फटिक शिला पर प्रभु आसीन हैं। वाम जानु पर श्री जनकनन्दिनी जी विराजमान हैं।

वे समारोपित है-भली प्रकार सुस्थिर बैठा है वहां। बड़ी सुन्दर झांकी है। जैसे नील मेघ स्थिर विद्युत को लिये बैठा हो।

एक हाथ में महा शायक है। साधारण बाण नहीं है वह। प्रभु के निषंग में साधारण बाण तो रहते ही नहीं। भक्तों का कहना है कि उस त्रोण में केवल पांच बाण रहते हैं। यों गोस्वामी जी ने रावण वध के समय त्रोण से इकतीस वाण लेकर सन्धान करने की बात कही है। जो भी हो, त्रोण अक्षय है। श्री राघवेन्द्र के वाण साधारण वाण नहीं। वे प्रयोग होने पर नष्ट नहीं होते। वे अमोघ होते हैं। कोई भी दिव्यास्त्र न तो उन्हें काट सकता और न किसी भी छल-बल या कौशल से वे लक्ष्यच्युत किये जा सकते। वे लक्ष्य वेध करके गिर भी नहीं पड़ते। वे तो अपना काम करके पुनः त्रोण में आकर प्रविष्ट हो जाते हैं।

महर्षि बाल्मीकि ने इनकी एक और विशेषता बतलाई है। यदि प्रभु वाणों के एक ही रहने की इच्छा करके उन्हें न निकालें, जैसे कि इस समय एक महाशर को क्रीड़ा पूर्वक त्रोण से निकाल कर हाथ में लिये हैं, तो त्रोण में ही ये वाण एक रहते हैं। त्रोण से खींचकर बाहर आते ही दस हो जाते हैं। धनुष पर चढ़ाते समय सौ बन जाते हैं और खींचते समय इनकी संख्या सहस्र हो जाती है। छूटने पर लक्ष हो रहते हैं तथा शत्रु के दल में तो ये कोटि शर होकर पहुँचते हैं। एक शर में ही प्रस्तार की इतनी शक्ति है। निषंग में वह पुनः एक होकर प्रवेश करता है। इस प्रकार के वाण को आप वाण कैसे कहेंगे, वह तो महाशर है।

एक हाथ में तो उपरोक्त महाशर है और दूसरे में बड़ा सुन्दर धनुष है। आप इस अत्यन्त सुन्दर धनुष को पहचानते

हैं। उसकी रुचिरता के दो कारण हैं। एक तो वह विश्व में सबसे शक्तिशाली—हां, उस पिनाक से भी, क्योंकि शिव का पिनाक तो जनकपुर में प्रत्यंचा चढ़ाकर खींचते ही टुकड़े उड़ गया था और यह कान तक खींचे जाने पर भी ज्यों का त्यों रहता है, अतः पिनाक से भी शक्तिशाली है। बड़ी मनोहर रचना है इसकी। दूसरे यह बड़े रुचिर समय का स्मारक है।

धनुष यज्ञ और उसमें लक्ष्मण की तेजस्विता, परशुराम का क्रोध, जनकपुरवासियों एवं श्री मैथिली की भुवन सुन्दर भीत मुद्रा तथा परशुराम का पराभव प्रभृति सब स्मरण दिला देता है यह चाप। यह वहीं भार्गव द्वारा समर्पित भगवान विष्णु का शारंग धनुष है। इतना सुन्दर धनुष भला दूसरा कहां प्राप्त हो सकता है।

इस अद्भुत शोभा से युक्त रघुकुल के स्वामी श्री राघव को प्रणाम ! वे अयोध्या का राज्यसिंहासन छोड़कर भले चले आये हों, पर रघुकुल के स्वामी तो वही हैं। रघुकुल का रिक्त सिंहासन अब भी उनकी प्रतीक्षा कर रहा है और वन में शिला पर वामांग में श्री महारानी जी को विराजमान कराये एक हाथ में महा शायक एवं एक में धनुष लिये आसीन प्रभु क्या महा राजाधिराज की छटा को प्रत्यक्ष नहीं कर रहे हैं। सिंहासन भले रिक्त हो, पर महाराज तो रघुवंश के यहां आसीन ही हैं। उनके श्री चरणों में मस्तक स्वतः अवनत होकर कृतार्थ होता है।

बहुत दिनों तक यह झांकी फिर न होगी। आगे आरण्य में तो आप प्रभु को 'पथिगन' ही देखेंगे और फिर तो श्री मैथिली…………। अतएव इस झांकी को अन्तर में रखकर चलिये। प्रभु को सिंहासनासीन देखना था न श्री महारानी जी

के साथ ? यह वही झांकी है। दरबारी तड़क भड़क से पृथक होने के कारण आप शान्ति से हृदय में धारण भी कर सकेंगे इसे।

मंगलाचरण ने पूरे काण्ड की कथा प्रकाशित कर दी है। वह इन्दीवराभ तन आज भी मार्ग के 'आतप वर्षा बात' को सहकर ज्यों का त्यों कोमल है। प्रकृति ने उसकी सेवा ही की है। उसे कष्ट देने का साहस उसमें नहीं। बन में भी वह 'सर्वदा सुप्रसन्न' ज्यों का त्यों है।

श्री विदेह नन्दिनी भी वन में न तो आकुल हुई हैं और न भीत ही। अयोध्या में सिंहासन पर प्रभु के वामांग में आसीन होने का आयोजन यहां बन में सफल हो गया है। "पिता दीन्ह मोहि कानन राजू" को उस सत्य संकल्प ने अक्षरशः सत्य कर दिया है। यह झांकी यौवराज्य की प्रस्तुति एवं व्याघात दोनों कह देती है।

अब क्रीड़ा के दिन गये। देव कार्य के लिये आये हैं बन में। कन्धे से कर में आया धनुष और त्रोण से हाथ में विराजित बाण यही सूचित कर रहे हैं। अब तो इनसे ही काम लिया जाना है।

'रघुवंश नाथम्' में पूरा भरत चरित है। रघुवंश के सिंहासन पर बैठने की कल्पना भी भरत को असह्य है। वहाँ तो सरकार नहीं तो उनकी पादुका सही। नाथ तो रघुवंश के वही हैं और रहेंगे। इस पूरे कांड में सब ने प्रभु को नमस्कार ही तो किया है अतः हम भी वही कहेंगे-नमामि।

मूलं धर्मतरोर्विवेकजलधेः पूर्णेन्दुमानन्ददं,
वैराग्याम्बुजभास्करं ह्यघघनध्वान्तापहंतापहम् ।
मोहाम्भोधरपूग पाटनविधौ स्वः सम्भवं शंकरं,
वन्देब्रह्मकुलं कलंकशमनं श्रीरामभूपप्रियम् ॥

धर्म रूपी वृक्ष के मूल, ज्ञान समुद्र को आनन्द देने वाले पूर्ण चन्द्र, वैराग्य रूपी कमल के लिये सूर्य पाप स्वरूप घोर अन्धकार के नाशक, (दैहिक, दैविक, भौतिक) तापों को नष्ट करने वाले, मोहरूपी बादलों के समूह को आकाशोद्भव वायु के समान नष्ट करने वाले, ब्रह्म कुल के कलंक (रावण) के नाशक श्री राजा रामचन्द्र के प्रिय शंकर जी को हम बन्दना करते हैं।

धर्म के आदि आचार्य भगवान शंकर हैं। प्रायः सभी धर्मों का उन्हीं से प्रादुर्भाव हुआ है। भागवत धर्म के तो वे परमगुरु परमाचार्य हैं। उन्हीं की सेवा से पुरुष धर्म को प्राप्त करता है और वही धर्मों के उत्पत्ति स्थान हैं। स्थान स्थान पर मानस में प्रभु ने इस तत्व का अनेक प्रकार से स्पष्टीकरण किया है। "संकर भजन बिना नर भगति न पावै मोरि" भागवत धर्म में तो उन विश्वानाथ की सेवा के बिना प्रवेश ही शक्य नहीं।

विवेक रूपी समुद्र के लिये वह पूर्ण चन्द्र हैं। उनके संबंध में शास्त्र कहता है 'ज्ञानिनाम् सगुरुगतिः' समुद्र पूर्ण चन्द्र को देखकर आनन्दित हो जाता है और उसमें ज्वार आने लगते हैं। ज्ञान की अभिवृद्धि एवं पूर्णता उन्हीं के द्वारा, उन्हीं के ध्यान पूजन से होती है।

वैराग्य का कमल तो उन्हें पाकर ही प्रफुल्लित होता है। उसके एक मात्र वही सूर्य हैं। भगवान शंकर का स्वरूप ही

वैराग्य को उद्दीप्त करने वाला है। पापों का घोर अन्धकार एवं भय ताप उनके स्मरण से नष्ट हो जाते हैं। भगवान सूर्य के प्रातः रूप का शिव रूप में, दोपहर को हरि रूप में तथा सायं ब्रह्मा के रूप में ध्यान होता है। प्रातः सूर्य ही अन्धकार का नाश कर देता है। ऐसे ही भगवान शिव पाप का नाश कर देते हैं। अभी तक शंकर जी को धर्म, चन्द्र एवं सूर्य का रूप कहा। वे प्रथम रूप से अधर्म का, द्वितीय रूप से त्रयताप का तथा तृतीय रूप से अज्ञान-अन्धकार के नाशक बताये गये। धर्म तरु के मूल होने से अघ घन के नाशक, वैराग्याम्बुज भास्कर होने से ध्वान्तापह एवं पूर्णेन्दु होने से तापहारी हैं।

वे शंकर हैं। कल्याण करने वाले हैं। मोह बादलों के समूह के समान हैं। वह मनुष्य के अन्तःकरण पर छाकर उसे आवृत कर लेता है। लेकिन बादलों को वायु क्षण भर में छिन्न भिन्न कर देता है। यह वायु स्वः सम्भव है। सांख्य शास्त्र कहता है "आकाशाद्वायुः" आकाश से वायु उत्पन्न हुआ। स्वः ध्यान देने योग्य है। अपने आप में ध्यान करने पर चित्त में स्थित भगवान शिव मोह के घन पटल को छिन्न भिन्न कर देते हैं।

ब्रह्मकुल–इसे आप ब्रह्मा का कुल माने या ब्राह्मण कुल, दोनों ठीक हैं। महर्षि पुलस्त्य ब्रह्मा के पुत्र थे और ब्राह्मण भी थे, इस कुल में रावण कलंक स्वरूप हुआ। इस ब्रह्मकुल के कलंक को शमित किया श्री रामचन्द्र जी ने। "राज्ञोमूर्धाभिषिक्तस्य, वधोब्रह्मधाद्ग रुः।" अभिषिक्त राजा का वध ब्रह्महत्या से भी बड़ा पाप है। राजा का वध राजा ही कर सकता है। इसीलिये श्री राघवेन्द्र को भूप कहा गया। उन राजाराम के परम प्रिय की वन्दना करते हैं।

इस श्लोक में भगवान शंकर की अष्टधामूर्तियों की स्थिति है। शंकर जी की अष्टमूर्तियां मानी जाती हैं—

'भूर्जलं वह्निराकाशं वायुर्यज्वा शशिः रविः।'

पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश, वायु, यज्ञ, चन्द्र और सूर्य ये शिव की आठ मूर्तियां हैं। श्लोक में धर्म के द्वारा यज्ञ, पूर्णेन्दु से चन्द्र, भास्कर से सूर्य, तरु मूल से पृथ्वी, जलधि से जल, स्वः से आकाश, स्वः संभव से वायु, ध्वान्तापह से अग्नि रूप को सूचित इंगित करते हुए स्तुति की गई है।

इस काण्ड में धर्म, ज्ञान, वैराग्य एवं भक्ति सम्बन्धी पर्याप्त उपदेश आये हैं। अतः उनके आचार्य की स्तुति प्रथम की गई और इन सब में आराध्य रूप भी भगवान शिवको बतलाया गया।

"जब जब होइ धरम कै हानी" प्रभति से धर्म त्राण के लिये अवतीर्ण हुये प्रभु धर्म रक्षार्थ प्रस्थित हो रहे हैं। उन्हें ज्ञानी ऋषि-मुनियों का परित्राण करना है, स्वयं उन्होंने विरक्तों का वेष बना लिया है। जा रहे हैं वे ब्रह्मकुल के कलंक को शमित करने, क्योंकि वे राजा हैं और यह राजा का कर्तव्य है कि गौ ब्राह्मण की रक्षा करे। रावण भगवान शंकर का भक्त है, पर शंकर जी श्री राघवेन्द्र को प्रिय हैं एवं राघवेन्द्र प्रिय हैं शंकरजी को। अतः रावण की शिवोपासना उसे बचा नहीं सकेगी। यही बात सूचित की गई।

शंकर जी धर्म के मूल हैं और प्रभु धर्म रक्षार्थ जा रहे हैं। प्रभु ज्ञानियों को निर्विघ्न करने चले हैं और भगवान शिव जी उन्हें आनन्द देना ही चाहते हैं। उन्हें आनन्द देना ही उनका भी कार्य है। विरक्त जनों को शंकर जी बड़ा आनन्द देते हैं, उनके कमल स्वरूप के लिये तो वे सूर्य ही हैं। प्रभु विरक्तों को न केवल आनन्द देने चले हैं, अपितु स्वयं विरक्त वेश में हैं। इस वेश में तो विश्वनाथ उनके लिये भी आनन्ददायी हैं। आशुतोष पाप नाशक हैं। पापी राक्षसों के नाश के लिये ही राघव प्रस्थित हुये हैं। वे मृदु तापहारी हैं और जगत को रावण

ने संतप्त कर रखा है। उसे ही प्रभु शमित करने जा रहे हैं। मोह को तो कैलाशनाथ क्षण भर भी टिकने नहीं दे सकते और असुरों में अब महामोह आ गया है। श्री अवधेश इसी से उन्हें निवारित करने चले हैं। ब्रह्मकुल के कलंक को शमित करने वाले हैं पार्वती नाथ। कलंकित चन्द्र को सिर पर धारण करके निष्कलंक कर दिया है उन्होंने। रावण भी ब्रह्मकुल का कलंक है। श्रीराम उसे शमित करने जा रहे हैं। श्रीराम शंकर जी को प्रिय हैं और शंकर जी प्रिय हैं राघवेन्द्र को। अतः रावण का शिवोपासक होने पर भी मारा जाना निश्चित है।

मानस के सभी काण्डों का मंगला चरण मंगलमय मगण से प्रारम्भ हुआ है। वही परंपरा यहां भी रही है। इस काण्ड के प्रारम्भ में भगवान शंकर की स्तुति है। प्रभु रावण संहार को चल पड़े हैं। इसी काण्ड में रावण ने सीता हरण भी किया है। वह अपूर्व शिवभक्त है। अतः गोस्वामी जी इस प्रार्थना में स्मरण दिला रहे हैं कि आशुतोष, दशानन आपके सभी स्वभावों के विरुद्ध आचरण करने वाला है और श्रीराम आपको प्रिय हैं, तथा आपके अभीष्ट कार्यों को ही पूरा करने जा रहे हैं, अतएव आपको यह पक्ष लेना है।

इस काण्ड में पहिले जयन्त प्रसंग में अधर्म शमन, फिर अत्रि आश्रम में ज्ञान प्रसंग, शरभंग प्रसंग में वैराग्य का साक्षात् रूप शरीर त्याग, सूर्पणखा एवं खरदूषण नाश में पाप नाश, मारीच प्रसंग मोह प्रसंग और सुतीक्ष्ण प्रसंग तो ताप हरण प्रसंग है। भगवान शंकर की कृपा से ही इन प्रसंगों का हृदय में दर्शन होता है। ब्रह्मकुल के कलंक रावण के उपशम के इस प्रसंग का दर्शन उन श्रीराम-भूप के परम प्रिय आशुतोष ने किया है, अतः उनकी बन्दना की गई है।

'सान्द्रानन्दपयोदसौभगतनुं पीताम्बरं सुन्दरं,
पाणौ बाणशरासनं कटिलसत्तूणीरभारं वरम् ।
राजीवायतलोचनं धृतजटाजूटेन संशोभितं,
सीतालक्ष्मणसंयुतं पथिगतं रामाभिरामं भजे ॥'

नवीन जलपूर्ण बादल की भांति आनन्ददायी श्यामसुन्दर शरीर, अत्यन्त मनोहर पीताम्बर धारण किये, हाथों में धनुष और बाण तथा कमर पर श्रेष्ठ तरकश कसे; खिले हुये कमल के समान विशाल नेत्र तथा मस्तक पर जटाजूट धारण करने से अत्यन्त सुशोभित, श्री महारानी जानकी जी तथा श्री लक्ष्मणलाल जी के साथ मार्ग में जाते हुये सुन्दरतर श्रीराम का ध्यान करते हैं।

नीलिमा—सान्द्रपयोद नीलिमा दो बातों की प्रतीक है। एक तो अनन्त की दृष्टि की शक्तिसे परेकी। क्षितिज क्यों नीली दिखाई देती है? दूर मैदान में क्षितिज पृथ्वी से क्यों लगी प्रतीत होती है? वस्तुतः क्षितिज कोई वस्तु नहीं। हमारी दृष्टि शक्तिकी वह सीमा है। जिस सीमासे आगे हमारे नेत्र नहीं जा सकते, बस आगे नीला नीला सपाट दिखाई देता है। साधारण लोग उसे आकाश कहते हैं और परिमार्जित भाषामें उसका नाम क्षितिज है। प्रभु का नीला रंग यह बतलाता है कि वे नेत्रोपलक्षण समस्त मन-इंद्रियादि की पहुँचके परे हैं। वहां ऐंद्रियक शक्ति जा नहीं पाती है।

दूसरे प्रकाश का केंद्र नीला होता है। प्रखरतर प्रकाश नीलवर्ण हो जाता है। वे प्रकाश के केन्द्र हैं। प्रकाश की पराकाष्ठा हैं प्रभु।

'सबकर परम प्रकासक जोई।
राम अनादि अवधपति सोई ॥'

स्थिर विद्युतके समान सुन्दर पीताम्बर उन्होंने धारण कर रखा है। प्रभु तो बन में हैं। बल्कल-वसनधारी हैं। यह पीताम्बर कहां से आ टपका? पीताम्बरका अर्थ आप कौशेयवस्त्र ही क्यों करते हैं? उस प्रकाश के केंन्द्र पर आच्छादन बनकर बल्कल भी चमक उठता है। बल्कलका रंग होता है गैरिक और अंगकी कांति है नील। नीलकांति भीतरसे आने के कारण वल्कल सुन्दर पीताम्बर बन गया है।

मार्गमें चल रहे हैं। जाना है दण्डकारण्य में। असुरों का प्राबल्य है इस पथमें। अतः दोनों तूणीर कमरमें पीछे की ओर कस लिये हैं। उनमें भरे वाणोंके पुंखभाग गर्दनके दोनों ओर से दिखाई दे रहे हैं। दाहिने हाथमें बाण है और बायें हाथ में प्रत्यंचा चढ़ा हुआ धनुष।

मुखपर न क्लांति है और न खेद। वे तो सदा प्रसन्न हैं। उनके बड़े बड़े नेत्र कमलके समान खिले हुये हैं। मस्तकपर जटाजूट धारण कर रखा है। वह मुकुटकी ही भांति सरकार को सुशोभित करता है। इस सौंदर्य राशि को भला शृङ्गार की क्या आवश्यकता? वह तो सहज अभिराम है। देखते ही मन खिंच जाता है।

आगे आगे प्रभु हैं। पीछे श्री जानकी प्रभु के चरण चिह्नोंके मध्यमें चरण रखती जा रही हैं। सबसे पीछे श्री लक्ष्मणकुमार हैं। एक पंक्ति में तीन चरण चिह्न बनते हैं, पर श्री रामानुज का चरणचिह्न कभी प्रभुके श्रीचरण चिह्नके दाहिने बनता है और कभी बायें। मार्गमें चलते हुये इस त्रिरूप को हृदय में रख लीजिये। अब इस वेश में सरकार का भजन कीजिये। यह अंतिम झांकी है। बन में फिर तीनों एकत्र न मिलेंगे।

श्रीसीता-लक्ष्मण संयुत पथिगत अभिराम श्रीराम का भजन कीजिये। यह मूर्ति भजनके ही योग्य है। यदि आप इसका भजन नहीं करते हैं तो भटक जायँगे भवमें। आपको भी भव-पथमें बहुत यात्रा करनी है। आगे सरकार अद्भुत मानवलीला करने वाले हैं। उनका यह पथिकरूप मनमें रहे तो उस लीलामें आपको मोह नहीं होगा।

कितनी सुन्दर सुलभ नयनाभिराम झांकी है। सहज स्वरूप है। नील जलद तनपर पीताम्बर, धनुष-बाण और त्रोण तथा मस्तक पर जटामुकुट। नेत्र विशाल कमल के समान। मार्ग में जा रहे हैं, जो चाहे सो मिल ले। जिसे इच्छा हो, चरण बंदन कर ले। साथ जाना हो तो मना थोड़े कर देंगे। अयोध्या के राज-दरबार में ये सुभीते मिलने से रहे। बन में भी यह अंतिम झांकी ही समझिये। श्री महारानी जी के न रहने पर यह आनन्द कहां ?

प्रभु पथ में हैं। वे स्वतः भव-पथ के पथिकों को लेने आये हैं। यह काम होगा भक्ति द्वारा। वह उनके पीछे चलने वाली उनकी अनुगामिनी योगमाया तो हैं। वे न रहें तो भजन होगा ही कैसे ? भक्ति के बिना भजन का मूल्य ? उनके प्रवर्तक वे पीछे जा रहे हैं। जीवों के परम गुरु वे श्री लक्ष्मणकुमार ही तो भक्ति के संरक्षक हैं। बन में प्रभु ने उन्हें ही सौंपा भी था। महारानीजी की रक्षा का भार। सदा के रक्षक वही हैं।

सीता-लक्ष्मण संयुत—भक्ति पूर्वक जो कि श्रीगुरुदेव द्वारा प्राप्त है, उस अभिराम—सर्वत्र व्याप्त श्रीराम का भजन कीजिये। फिर तो वह 'हरि व्यापक सर्वत्र समाना।' नवजलधर श्याम, पीताम्बर परिवेष्टित, धनुषबाण त्रोणधारी, जटाजूट बनाये, अपने कमलदलायत लोचनों से कृपावृष्टि करता साकार हो उठेगा। वह स्वयं चलकर पथमें ही आपको मिल जायगा।

यही तो वह सान्द्रानंद पयोद सुन्दर तनु है, जिसे देखकर बहिन की नाक कान काटने पर भी खरदूषण मुग्ध हो गये? सूर्पणखा विचारी तो मुग्ध हो ही गई थी। सुन्दर पीताम्बर शबरीके बेर भरने में काम आ गया। हाथ में प्रस्तुत धनुष बाण न होता तो विराध बध कैसे होता?

कथाओं के लिये प्रकाश तो इस श्लोक में भी पर्याप्त है, पर मुझे ऐसा लगता है कि इस काण्डका पूरा प्रकाश इसके पूर्व के एक ही श्लोक से प्राप्त हो गया है। यह तो झांकी का वर्णन है। आगे सुलभता न होगी, इस अशंका से गोस्वामी जी स्थिर रूप से इस झांकी को हृदय में रख रहे हैं। उन्होंने इस श्लोक में नमस्कार न करके भजे कहा है। भजन तो चलता रहता है। वह एकान्तिक एवं नैष्ठिक होता है। उसका रूप रोज रोज बदलता नहीं। अतः यह रूप भजन के लिये स्थायी रूप से हृदय में रख लिया गया है।

यहां एक विराम होता है। अब तक त्रिमूर्ति की झांकी चलती रही है। भजे, कहकर सूचित किया जा रहा है कि अब आगे वह चल न सकेगी। इस झांकीका तो भजन ही करना है। आगे अब दोनों भाइयों का व्यग्र या रोष भरा रूप आवेगा। वह सब नाटक होगा। वास्तविकता यहीं तक थी। भजनीय नाटक नहीं हुआ करता। वास्तविक रूप ही भजनीय होता है।

पथिगत तो प्रभु हैं ही। अब आगे भी पथ ही पथ है। अयोध्या से चलने पर चित्रकूट में विश्राम हुआ था। पंचवटी या प्रवर्षण गिरिका विश्राम कोई विश्राम है? अब तो अयोध्या पहुँचने तक पथ ही पथ है। कहीं रुकना भी है तो चलने के लिये। अतः पथ की इस सर्व-सुन्दर झांकी का भजन करना ही चाहिये।

कुन्देन्दीवरसुन्दरावतिबलौ विज्ञानधामावुभौ,
शोभाढ्यौ वरधन्विनौ श्रुतिनुतौ गोविप्रवृन्दप्रियौ।
मायामानुषरुपिणौ रघुवरौ सद्धर्म्मवर्मौ हितौ,
सीतान्वेषणतत्परौ पथिगतौ भक्तिप्रदौ तौ हि नः ॥

जो दोनों भाई कुन्दके पुष्प तथा इन्दीवर (नील कमल) के समान गौर-श्याम, अत्यन्त बलवान, विज्ञान-भवन, शोभा-सिन्धु, श्रेष्ठ धनुर्धर, वेद वन्दित, गौ एवं ब्राह्मण समुदायको प्रिय, माया से मनुष्य रूप धारण किये, रघुकुलतिलक, सद्धर्म-रक्षक, सबके हितकारी तथा मार्ग में चलते हुये श्री महारानी जानकी जी के अन्वेषण में लगे हैं, वे निश्चय ही हमें भक्ति प्रदान करें।

छोटे लक्ष्मण कुमार कुन्द पुष्प के समान गौर हैं और सरकार हैं इन्दीवर श्याम। दोनों भाई शोभा-सिन्धु हैं। इस सीतान्वेषण की विकलता में भी ये वे अत्यन्त सुन्दर लगते हैं। यह मोह नहीं है। अन्वेषण का नाटक है।

'राम सच्चिदानन्द दिनेसा।
नहिं तहँ मोह निसा लवलेसा ॥'

उन्हें क्या पता नहीं है कि महारानी जी कहां हैं ? ऐसा नहीं हो सकता। किसी प्रकार के भी अज्ञान की कल्पना वहां शक्य नहीं। वे दोनों भाई विज्ञान के धाम हैं। उन्हें सब कुछ पता है। लेकिन जो स्वांग लिया है, उसे पूरा भी तो करना है।

'सोभा सिन्धु सुभग दोउ बीरा।
नील-पीत जलजाभ सरीरा ॥'

उन शोभा-सिन्धु बन्धुओं की शोभा का पूछना ही क्या ? बड़े श्रेष्ठ धनुर्धर हैं। रावण जैसे विश्व-विजयी का साहस नहीं हुआ कि उन दोनों भाइयों में से एक के रहते भी श्री जानकी जी को ले जावे। एक ही बाण से सप्त-ताल-बेध तथा बालि-वध श्रेष्ठ धनुर्धर होने का प्रमाण है। छोटे कुमार के धनुष चढ़ाते ही सुग्रीव के साथ सारी किष्किन्धा कांप उठी थी।

दोनों भाई वेद-वन्दित हैं। श्रुतियाँ उन्हीं की स्तुति करती हैं। ऐसी स्थिति में शंका होगी—जब दोनों भाई शारीरिक दृष्टि से अत्यन्त बलवान हैं, विज्ञानधाम होने के कारण श्री वैदेहीजी का पता भी जानते हैं, और श्रेष्ठ धनुर्धर भी हैं तो ले क्यों नहीं आते उन्हें ? श्रुति-वन्दितों को क्या आड़ से बालि का वध करना चाहिये था ?

वे गौ एवं ब्राह्मण समूह को प्रिय हैं और गौ-ब्राह्मण उन्हें प्रिय हैं। अतः प्रश्न केवल श्री जानकी जी को लाने का नहीं है। गौ एवं ब्राह्मणों को संताप देने वाले राक्षसों को दंड देकर ठीक करने का है। असुर विनाशार्थ यह सब भूमिका रची जा रही है। बालिको भी एक विप्रका ही वरदान था कि तुम्हें कोई सामने से नहीं मार सकेगा। अपने परम प्रिय विप्रों के वचन की रक्षा करना था और साथ ही गोरूपिणी पृथ्वी के भार को दूर भी करना था। मदान्ध बालि धरा-भार हो चुका था।

दोनों भाई वस्तुतस्तु मनुष्य नहीं। माया से ही उन्होंने मनुष्यरूप धारण किया है। पंपासरोवर के किनारे देवर्षि नारद के आने पर यह बात स्पष्ट हो गई। श्री हनुमान जी ने भी उन्हें पहिचान लिया। वैसे वे अपने मुख से परिचय देते समय श्री हनुमान जी तथा सुग्रीव के सम्मुख भी रघुवंश कुमार ही बने रहे। इस समय तो रघुकुल भूषण ही हैं।

'जब जब होइ धरम कै हानी।'

तभी आप 'निज स्रुति-सेतु' के रक्षार्थ अवतीर्ण होते हैं। सद्धर्म के लिये रक्षा कवच हैं। बालि का वध उसके अधर्म के कारण हुआ और सुग्रीव की रक्षा शरणागत की रक्षारूप धर्म था आवेश में मित्र का धर्म याद था। छोटे कुमार को रुष्ट होते देख आपने झट स्मरण करा दिया कि मित्र पर रोष नहीं करना है। मित्र धर्म का तो वर्णन ही किया है आपने।

'सुहृदं सर्व भूतानां' सबके हितकारी हैं दोनों भाई। 'सबके प्रिय, सबके हितकारी' तो आपके सेवक हो जाते हैं। आप यदि सबके हितकारी हो गये तो क्या बड़ी बात हुई। लेकिन कैसे हितकारी हैं, वह उन्होंने स्वयं देवर्षिको बताया है।

'कुपथ मांग रुज व्याकुल रोगी।
बैद न देइ सुनहु मुनि जोगी॥'

इस समय सीतान्वेषण में तत्पर हैं। सीतान्वेषण ही तो है इस कांड भर में। यह बन्दना किष्किन्धा काण्ड की है। सुग्रीव-मित्रता, बालि-बध, सुग्रीव को भय देना, कपियों को इधर-उधर भेजना, सभी सीतान्वेषण है। उसी अन्वेषणार्थ सब कुछ किया गया है।

दोनों भाई मार्ग में हैं। प्रवर्षण पर चार महीना निवास तो वर्षा के कारण है। मर्यादानुसार पथिक को जहाँ भी चतुर्मासा हो, रुक जाना चाहिये। उसी नियम से यह चातुर्मास्य है। वैसे तो अभी अन्वेषण के पथ में ही हैं दोनों भाई। बिना उद्देश्य पूर्ति के पथ की समाप्ति कहां?

निश्चय ही वे हमें भक्ति देंगे! इस कांड में उन्होंने देवर्षि नारद से प्रारम्भ करके सबको भक्ति ही तो दिया है। जो सामने आया, उसी से आपने कहा 'बरं ब्रूहि' मांगने वाले भला छोटी

मोटी वस्तु क्यों मांगने लगे उन्होंने तो सीधे वही चिन्तामणि मांगा। 'एवमस्तु !' दरबार खुला है। जब सभी को इस प्रकार आज खुला वितरण हो रहा है तो हमारे लिये ही क्यों कंजूसी होगी और फिर हमीं ऐसी वैसी चीज क्यों मांगेगे ? आज महादानी एक ओर से बांट रहे हैं। अतः निश्चय है कि आज वे हमें भक्ति दे देंगे।

एक बात और भी है। काण्ड के आरम्भ में ही उन्होंने देवर्षिको अपने दान का सिद्धान्त समझा दिया है। वे मांगने पर भी रोगी को कुपथ देते नहीं। अतः यदि हम कोई ऐसी वैसी वस्तु मांगें भी तो वह मिलेगी नहीं। वे तो आज भक्ति ही देंगे। 'कुपथ' देना उनसे हो ही नहीं सकता।

काण्ड की सम्पूर्ण कथा इस एक ही आलोक-रश्मि में प्रकाशित हो उठी है। जो कुछ भी आगे कहना या सिद्धान्त करना है, सब इस सूत्र में निहित है। इसी प्रकाशका प्रस्तार है आगे का वर्णन।

एक छोटी सी प्रार्थना भी है इसमें। गोस्वामी जी कह रहे हैं—प्रभु आप गौर-श्याम बड़े सुन्दर लगते हैं। आपका विज्ञान-धाम ज्ञानगम्य स्वरूप भी है, पर मुझे तो यह शोभा-सिन्धु धनुषधारी स्वरूप ही प्रिय है। आप वेदवन्दित व्यापक, निर्गुण हैं सही, पर गो विप्र वृन्द के प्रियार्थ मायामानुष होकर जो रघुवंश भूषण हो गये हैं, धर्मरक्षार्थ धारित यह रूप ही मुझे हितकर प्रतीत हो रहा है। आप महारानी जी को ढूढ़ते हुये पथिक बने हैं और मैं इस भव में कब से पथिक बना हूँ, आपकी भक्ति के लिये। अवश्य ही वह भक्ति हमें दे दीजिये।

ब्रह्माम्भोधि समुद्भवं कलिमलप्रध्वंसनं चाव्ययं,
श्रीमच्छम्भुमुखेन्दु सुन्दरवरे संशोभितं सर्वदा ।
संसारामयभेषजं सुखकरं श्रीजानकीजीवनं,
धन्यास्ते कृतिनः पिबन्ति सततं श्रीरामनामामृतम् ।।

वे पुण्यात्मा धन्य हैं जो ब्रह्मरूपी सागर से निकले, कलिमल के विध्वंसक, अव्यय, श्री भगवान शंकर के चन्द्र मुख में सर्वदा विराजमान, संसार व्याधि की औषधि स्वरूप, सुखकारी तथा श्री जानकी जी के जीवनभूत श्रीरामनामामृत निरन्तर पान करते रहते हैं।

श्रीरामनाम अमृत है। अमृतकी भांति ही समुद्र से निकला है। व्यापक निर्गुण ब्रह्म ही उसका समुद्र है। तभी तो निर्गुण मतवादी बहुत से कबीर जैसे संत रामनाम का जप करते हैं। साधारण अमृत कल्पान्त स्थायी क्षीरोदधि से निकला, अतः उसके पानकर्ता देवता कल्पांत तक ही अमर रहते हैं। पर यह अमृत तो शाश्वत ब्रह्म से निकला है। इसका प्रभाव भी शाश्वत रहने वाला है।

उस अमृत ने तो समुद्र के मलको एक बार ही नाश किया था, पर यह अमृत कलिमलका प्रध्वंसी—मूलतः विनाशक है और साथ ही अव्यय है। खर्च करते जाइये, भण्डार भरा। घटना जानता ही नहीं। ऐसा नहीं कि देवताओं के समान चिंता और रक्षा करनी पड़े कि कोई पीकर समाप्त न करदे।

उस अमृत का निवास है चन्द्रमा में। चन्द्रमा घटता बढ़ता रहता है और अमावास्याको क्षीण भी हो जाता है। वह कलङ्कित

है और राहु उसे ग्रस भी लेता है। यह श्री रामनामामृत भगवान शङ्कर के चन्द्रमुख में रहता है। उस निष्कलंक, नित्यपूर्ण, निर्वि-कारी धाममें, जहां देखने का साहस भी दुष्टजन नहीं कर सकते। घटने बढ़ने की बात नहीं, वहां वह सर्वदा ही सुशोभित होता रहता है।

मृत्यु की ही यह औषधि नहीं। अमृत पीकर मृत्यु जीतने वाले तो प्रलय के पश्चात् फिर जन्म मरणके चक्रमें पड़ जाते हैं। यह संसार व्याधि की औषधि है। इससे भवरोग जड़ से चला जाता है। आवागमन छूट जाता है। साथ ही आनंद स्वरूप हो जाता है। यह अक्षय सुखकारी है। भला स्थूल अमृत में यह गुण कहां ? उसे पीकर भी ईर्षा द्वेष, असुरोंका भय आदि दुख तो लगे ही रहते हैं।

माता जानकी का यही जीवन है। इसी के बल पर तो वे लंका में जीवित हैं। 'नाम पाहरू दिवस निसि' उस अमृत स्वरूप अहर्निशि जागरूक पहरेदार ने ही तो उनके प्राणों को रोक रखा है। अन्यथा क्या इस वियोग में वे जीवित रहना चाहती हैं ?

अमृत एक बार पिया जाता है। पुण्यका फल स्वर्ग मिला और वहां अमृत पीने को मिल गया, पर श्रीरामनामामृत तो सतत पान करने की वस्तु है। उसे साधारण पुण्यात्मा पान नहीं कर सकते। वह देवताओंको भी दुर्लभ है। 'मनुष्याणां सहस्रेषु' उसका पान तो कोई अत्यन्त धन्यभागी पुण्यात्मा ही करते हैं।

किष्किन्धा के पूर्वार्ध की कथा तो पहिले श्लोकमें आ गई। इसमें तो उत्तरार्द्ध की बात है। बानर यूथ माता जानकी का पता लगाने जा चुका है। उसके साथ साक्षात् श्रीराम न सही, उनका नाम तो है ही। क्योंकि वह तो व्यापक ब्रह्म से निर्गत अथ च व्यापक है।

अन्वेषण में न तो किसी को थकावट आती और न नींद क्योंकि ये तमोगुण स्वरूप कलिके धर्म हैं। रामनाम कलिमल नाशक है। उनकी शक्तियों का व्यय कभी नहीं होता। अव्यय अमृत का उन्होंने जो सहारा लिया है भगवान शंकर उनके रक्षक हैं। क्योंकि वह अमृत उनके सुन्दर वर चन्द्रमुख में रहता है। उन्हीं की कृपा से प्राप्त होता है।

रोग, शोक तथा जीव-जन्तुओं की पीड़ा भला जङ्गल पहाड़ भटकने में कैसे हो सकती है। सब प्रसन्न हैं, आनंदित हैं। उनके समीप संसार व्याधिकी ही नाशक सुधा है तो छोटी व्याधियों की क्या चर्चा। वह सुधा बड़ी आनन्ददायिनी है। ऐसा न होता तो वे अन्वेषण कार्य कर सकते ? कहीं तृण मूल जल मिलते हैं और कहीं वह भी नहीं, पर वे हैं प्रसन्न।

महारानी जी अवश्य मिलेंगी और जीवित मिलेंगी। सारी खोजका यही आधार है। यदि इस पर पक्का विश्वास न हो तो खोज ही ठप हो जाय। उत्साह ही मारा जाय। पर विश्वास का कारण है। श्री जानकी जी का जीवन श्रीरामनामामृत है और उसे उनसे कोई छीन सकता नहीं। अतः उनके जीवन में संदेह क्या।

निरंतर श्रीरामनामामृत पान करते हुये श्री विदेहजा को जंगल, पर्वत एवं कन्दराओं में ढूंढते फिरने वाले कपि कुञ्जर धन्य हैं। वे बड़े ही भाग्यशाली हैं। महान् पुण्योदय हुआ है उनका। नहीं तो भला बानर होकर रामकाज और रामानुराग कहां सामंजस्य रखता है।

पहिले श्लोकमें 'सीतान्वेषण तत्परौ' कहकर दोनों भाइयों की स्थिति का स्पष्टीकरण हुआ है। यहाँ लंका में महारानी जी की भी स्थिति के संबंध में कुछ कहना चाहिये। 'श्री जानकी जीवनम' यही कह रहा है।

आज उनके परम प्रिय उनके समीप प्रगट रूपसे नहीं, पर वे पति गत प्राण पतिसे पृथक् जीवन-धारण कर सकते हैं ? 'राम ब्रह्म व्यापक' और उसी ब्रह्ममें उद्भूत उसके स्वरूप ही श्रीरामनाम, यही उनके जीवन हैं। इसी सान्निध्य के कारण वे जीवित हैं। इस कलिमल नाशक ने उनकी क्षुधापिपासा और निद्रा को हरण कर लिया है। इतने पर भी वे रहेंगी, वैसी ही रहेंगी। नामामृत अव्यय जो है।

काल या रावण ही क्या कर लेगा ? उन्होंने दोनों के अधीश्वर के शुन्दरवर श्री मुख में सर्वदा संशोभित का आश्रय लिया है। उन्हें डरा धमका कोई भलेले, पीड़ा नहीं दे सकता, क्योंकि सभी पीड़ाओं से वे परे हैं। उन्होंने भव भेषज का आश्रय लिया है। अपना जीवन वहाँ स्थापित कर रखा है।

भगवान शंकर का प्रसाद है वह रामनामामृत। उनके मुख से निकला है। माता जानकीका जीवन—अनुग्रह सब है उसमें। उसका सतत पान बिना पुण्य के होता नहीं। श्रीमहारानी जी, कपिवर्ग सभी उसी को पान कर रहे हैं। इस काण्ड से नाम महिमा का चमत्कार है। गोस्वामीजी उसीके पीने में लगने का संकेत कर रहे हैं।

'शान्तं शाश्वतमप्रमेयमनघं गीर्वाण शान्तिप्रदं,
ब्रह्माशम्भुफणीन्द्रसेव्यमनिशं वेदान्तवेद्यं विभुम् ।
रामाख्यं जगदीश्वरं सुरगुरुं मायामनुष्यं हरिं,
वन्देहं करुणाकरं रघुवरं भूपालचूड़ामणिम् ।।'

शान्त, शाश्वत, अतुलनीय, निष्पाप, देवताओं को शान्ति देने वाले, ब्रह्मा-शंकर और शेष द्वारा निरन्तर सेवित, वेदांत बोध्य, सर्वव्यापक, जगदीश्वर, देवताओं के परमगुरु, श्रीराम-नाम से इच्छापूर्वक मनुष्यरूप धारण किये उन श्रीहरि की जो करुणामय आज राजराजेश्वर रघुवंश भूषण रूप धरे हुये हैं, हम बन्दना करते हैं।

मूलतः भगवद्रूप शांत है। क्योंकि अशांति तो अप्राप्ति में होती है। उस पूर्णकाम में अप्राप्ति कोई वस्तु नहीं। वह शाश्वत तत्व है। कभी नाश नहीं होता। उस अनादि अनंत की कोई माप नहीं। वह देवताओं को शांति देने वाला है, पर है निष्पाप।

ब्रह्मा-शंकर-शेष उसी की सेवा करते हैं। निरंतर सेवा करते हैं। ब्रह्मा तो उसकी नाभि-कमल से निर्गत हैं और उसकी सृष्टि के कार्य को चलाते हैं। निरन्तर ही उसी की सेवा करते हैं। शङ्कर उसी के ध्यान में समाधि लगाये रहते हैं। शेषशय्या पर तो वह सोता ही है।

इतने पर भी वह वेदांतवेद्य है। उसका मूल स्वरूप व्यापक है। वेदांत के द्वारा उसका बोध होता है। उसी जगदीश्वर सुर-गुरु श्रीहरि ने श्रीराम नाम से माया से मनुष्य रूप धारण कर लिया है। क्योंकि जगदीश्वर और सुरगुरु होने के कारण

असुरों द्वारा जगत का उत्पीड़न तथा देवताओं की व्यथा वह सह नहीं सका था।

वह दयामय है। उसके दमन में भी दया है। दमन तो वह करेगा ही, क्योंकि वह श्रेष्ठ रघुवंशी है। भूपालचक्र चूड़ामणि है। दुष्ट राजाओं का दमन करने के लिये ही तो उसने यह वेष स्वीकार किया है।

प्रभु का स्वरूप ही शान्त है। सुन्दरकाण्ड का मंगलाचरण है यह। रावण की दुष्टता, समुद्र का हठ, विभीषण का आगमन कहीं भी रोष नहीं। रावण को भी समझाने का प्रयास, उसके भी बचाव का प्रयत्न, यह सब शांत स्वरूप की झांकी है।

शाश्वत हैं वे। उनके रूपमें कभी कहीं विकार आता ही नहीं। यह जानकी वियोग का तो नाटक है। वस्तुतः तो श्रीमहारानी जी उस शाश्वत स्वरूप से अभिन्न हैं। उनका प्रभुसे त्रिकाल में भी वियोग होता नहीं। उस स्वरूप में कभी कोई गड़बड़ी नहीं होती।

'जग महँ सखा निसाचर जेते।
लछिमन हनहिं निमिष महँ तेते॥'

आपके बाण उठाते ही 'उठी उदधि उर अंतर ज्वाला।' उस बल की थाह कोई कहां पा सकता है? अनुमान से भी परे है वह शक्ति।

जिसके स्मरण से ही पाप-जन्मजन्मान्तर के पाप नष्ट हो जाते हैं, उन्हें अनघ कहना कैसा? लेकिन आप गीर्वाण-शांतिप्रद हैं, देवताओं को शान्ति देने वाले हैं। यह शांतिदान अपक्षपात पूर्ण, अथच पाप नहीं है। पापिष्ठों का आप दमन करके देवताओं को शांति देते हैं। बिना अपराध उन्होंने लङ्का पर चढ़ाई की नहीं है। रावण को पर्याप्त चेतावनी दी जा चुकी है।

अतः उसे दण्ड देने में अब कोई दोष रह नहीं गया है। यों भी यह देवताओं की अभिवृद्धि का काल है। अतः इस काल में देवताओं की अभिवृद्धि की प्रत्येक बाधा को काल मर्यादा के व्यवस्थापक को मिटाना ही चाहिये।

रावण को ब्रह्मा तथा शंकर जी से वरदान मिला है। 'मैं ब्रह्मा मिलि तेहि वर दीन्हा।' यह वरदान उसकी रक्षा कर नहीं सकेगा। वे दोनों ही प्रभु के सेवक हैं और यदि वे भक्त-पक्ष कर भी जावें तो तीसरे शेष जी बचे रहेंगे। वे शेष जिनकी फूत्कार से प्रलयकाल में ब्रह्मलोक भी भस्म हो जाता है। रावण पर तो ब्रह्मा और शंकर एक बार प्रसन्न हुये थे; पर सरकार के चरणों की तो वे शेष के साथ सदा सेवा करते रहते हैं।

वे वेदान्त वेद्य हैं। उनका स्वरूप साधारण बुद्धि में आता नहीं। अतः यदि जड़ समुद्र उन्हें पहिचान न सका तो कोई आश्चर्य नहीं। 'सोइ जानइ जेहि देहु जनाई' के अनुसार विभीषण, मन्दोदरी प्रभृति बहुत थोड़े भक्त उन्हें जान सके थे। असुर बेचारे भला क्या जानते उन्हें।

उन विभु के प्रताप से यदि पानी पर पत्थर तैर गये तो क्या बड़ी बात हुई। पत्थर और जल दोनों में तो वही व्यापक हैं। व्यापक न होते तो हनुमान जी के मुख से श्रीमहारानी जी को आप स्वयं सन्देश कहाने लगते ? विभु न होते तो श्री आंजनेय हृदय में कैसे रख लेते ?

वे श्रीराम कहलाने वाले प्रभु जगदीश्वर हैं। समुद्र पर शासन करना दूसरे का काम नहीं था। जड़-चेतन के गुण-धर्म का निर्माण उन्होंने ही किया है। अतः उसमें उलट-फेर करना उन्हीं की शक्ति है। उनकी आज्ञा सबके सिर-माथे पर। समुद्र ने पहिले यह बात समझी नहीं। लेकिन उर-अन्तर में ज्वाला उठते ही होश ठिकाने आ गया।

देवताओं के वे परमगुरु हैं। उनकी प्रीति का सम्पादन सभी को अभीष्ट रहता है। श्री हनुमान जी को अनल ने तनिक भी संतप्त नहीं किया। श्रीराम-भक्त के नाते अग्निदेव ने विभीषण का घर भी छोड़ दिया। सुबेल पर काल ने भी रामदूत से छेड़-छाड़ नहीं की। सभी देवता रावण से त्रस्त हैं और कुछ उसके बन्दीगृह में भी हैं। देवताओं के परमगुरु उन्हें अभय देने और मुक्त करने पधारने वाले ही ठहरे।

वे श्रीहरि कृपा से मनुष्य रूपधारी हुये हैं। अतः मनुष्यों के आदर्शानुरूप उनका शिव-स्थापन आदर्श ही है। सेतु बँध जाने पर वहां देव-पूजा होनी ही चाहिये थी। मर्यादा-पुरुषोत्तम ने उसी मर्यादा की रक्षा की। उन श्रीहरि का भगवान शंकर के समान कोई दूसरा प्रिय भी तो नहीं। अतः वहां शंभु-स्थापना ही हुई।

वे तो दयामय हैं। 'सम्मुख होइ जीव मोहि जबहीं।' में उनकी करुणा छलकी पड़ती है। रघुबंशी भला कभी शरणागत की रक्षा से मुख मोड़ते हैं? फिर प्रभु तो रघुवर हैं, वे सुग्रीव की सलाह ठीक होने पर भी नीति की प्रधानता देकर शरणागत त्राण-धर्म को क्यों छोड़ने लगे। उन भूपालचक्र चूड़ामणि ने एक शरणागत को लंका का राज्य दे दिया तो क्या बड़ा काम हो गया। सम्राट का काम ही है अयोग्य मांडलीक को उतारकर वहां उचित स्वत्वाधिकारी को अभिषिक्त करना। रावण बालि से हार चुका था और शेष सबको जीत चुका था। बालि-वध करके प्रभु स्वतः सिद्ध सर्वजयी सम्राट हो गये।

समुद्र पर पुल बंध गया। विभीषण का अभिषेक हो ही चुका था। शंभु पूजन करके खड़े सरकार की इतनी स्तुति करते हुये बन्दना कुछ अर्थ रखती है। वह अर्थ आगे स्पष्ट हो रहेगा।

"नान्यास्पृहा रघुपते हृदयेऽस्मदीये,
सत्यं वदामि च भवानखिलान्तरात्मा।
भक्तिं प्रयच्छ रघुपुंगव निर्भरां मे,
कामादि दोषरहितं कुरु मानसं च ॥"

हे रघुपति, मेरे हृदयमें और कोई भी इच्छा नहीं है, यह सच सच कह रहा हूँ और (यदि इसमें संदेह हो तो) आप सबकी अन्तरात्मा ही हैं। (आपसे कुछ छिपा तो है नहीं) अतः हे रघुपुंगव, मुझे अपनी निर्भर—अनन्य भक्ति प्रदान करें तथा मेरे मनको कामादि दोषों से रहित कर दें!

यों तो विश्व में बहुत कुछ स्पृहणीय है। यह अपनी अपनी रुचि तथा भावना पर निर्भर करता है। लेकिन अब तो सभी जागतिक स्पृहायें शान्त हो चुकी हैं। कोई भी स्पृहा शेष रही नहीं है। सभी का तथ्य ज्ञात हो गया है। उनका खोखलापन प्रगट हो गया है।

यह मेरी बुद्धिका निश्चय नहीं—हृदय की धारणा है। बुद्धि के द्वारा किसी वस्तु को उचित-अनुचित, उपयोगी-अनुपयोगी ठहरा लेना एक बात है और उसे जीवन में परिणित करना दूसरी बात। संसार का मिथ्यात्व एवं विषयों की दुःखरूपता बुद्धिगम्यतो होजाती है, पर हृदय कहां मानता है। वहां तो वही इच्छायें बनी रहती हैं। गोस्वामी जी कह रहे हैं कि मेरे हृदय ने सब मान लिया है। 'उरते सकल वासना भागी।' अब हृदय ही कुछ नहीं चाहता।

यह वागाडम्बर नहीं है। सच सच कह रहा हूँ। आप निखिलान्तरात्मा हैं। सबके हृदय में ही रहते हैं। अतः आप

से कुछ छिपाया तो जा नहीं सकता। 'सबके उर अन्तर बसहु, जानहु भाव कुभाव।' तो आप स्वतः देख लें कि मैं सच कह रहा हूँ या नहीं।

मुझे भक्ति चाहिये! निर्भरा भक्ति-अनन्य भक्ति दीजिये। किसी व्यापक ब्रह्म की भक्ति नहीं मांगता। किसी चतुर्भुज अष्ट भुज या द्विव्यधामवासी को भक्ति भी नहीं मुझे भक्ति तो रघु-पुंगव की चाहिये। रघुवंश में अवतार लिये उसी दशरथ कुमार को। श्री कौशल्या-नन्दन की भक्ति।

केवल भक्ति ही नहीं। मेरे मानस को कामादि दोषों से रहित भी कर दो! काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मानादि मेरे मानस में कभी आने न पावें। उस मानस में तुम्हारी भक्ति रहेगी न? जहाँ भक्ति रहेगी, वहाँ तुम भी रहोगे ही। यह कूड़ा मेरे हटाने की शक्ति से बाहर है। तुम इसी कूड़े में रहोगे? छिः! इस कामादि के कूड़े को स्वच्छ करके तब विराजो वहाँ।

पहिले तो कह आये कि हृदय में कोई स्पृहा ही नहीं और अब कहते हैं कि कामादि को हटा दो! स्पृहा-कामना-काम क्या एक ही नहीं है? यदि स्पृहा ही नहीं तो कामादि कैसे? हटाना किसका? और यदि कामादि हैं तो स्पृहा नहीं यह क्योंकर?

स्पृहा तो नहीं है। कामादि भी नहीं हैं। लेकिन 'सिव विरंचि कहँ व्यापै को है बपुरा आन।' उस मायासे डर लगता है। पता नहीं कब लीलाधर मुस्करा पड़ें और हृदय में तूफान खड़ा हो जाय। भक्तों के हृदय में साधारण कामादि विकार तो होते नहीं। उसी दृष्टि से (स्पृहा नहीं), कहा गया, लेकिन कभी कभी कारण वशात नारद मोहकी भांति भगवान की दिव्य योगमाया मानस में कल्पित विकारों का उद्भव कर देती है अतः मानस को कामादि दोषों से रहित करें की प्रार्थना प्रकारान्तर

से 'अब जनि कबहूँ ब्यापै प्रभु मोहि माया तोरि' की प्रार्थना है। कहा जा रहा है कि कभी चाल न चलना देवता !

मांगना है भक्ति। वह अनधिकारी को प्राप्त होती नहीं। 'जहां काम तहं राम नहिं।' अतः पहिले अपने को अधिकारी बताया गया है। भक्ति का अधिकार मनुष्य को तभी प्राप्त होता हैं, जब उसके हृदय से लौकिक एवं पारलौकिक समस्त भोगों के प्रति वैराग्य होजाय। यह वैराग्य केवल बौद्धिक न हो। बुद्धि मान भर न ले। हृदय उसे स्वीकार करले ! भोगों से घृणा हो जाय। वे काटने दौड़ें। गोस्वामीजी वही अधिकार बतला रहे हैं। मेरे हृदय में कोई भी इहलौकिक या पारलोकिक कामना रह नहीं गई हैं।

वैराग्य की बातें करना सहज है। मन में कुछ और भरे वैराग्य बधारनेलाले बहुत मिलते हैं। वैराग्य की बात सोचना उसके अनुसार चेष्टा करना उससे कठिन है। किन्तु हृदय से वैराग्य होना और भी कठिन है। मुख से नहीं, हृदय से स्पृहा चली गई है, यह सब सच सच कह रहा हूँ। यह विश्वास दिलाया गया है।

बहुधा हमारा मन हमें ही धोखा देता है। कामनायें सुप्त· रूपसे पड़ी रहती हैं और किसी कारण विशेष से वैराग्य जाग पड़ता है। इसे श्मसान वैराग्य कहते हैं। यह अस्थिर होता है। थोड़े दिनों में कामनायें जाग उठती हैं और वैराग्य हवा हो जाता है। गोस्वामीजी कह रहे हैं—प्रभु, मेरा मन मुझे तो धोखा दे सकता है, पर आपको तो दे नहीं सकता। आप तो अन्तर की आत्मा हैं। हृदय के भी भीतर रहते हैं। अतः आप स्वतः देख लें कि मेरे मन में कहीं छिपो छिपाई कोई स्पृहा है या नहीं।

हृदय में पूरा वैराग्य है। मैं आपकी अनन्य भक्ति चाहता हूँ। हो सकता है कि प्रत्यक्ष स्पृहा न होने पर भी कामनाओं के बीच कहीं सुप्त पड़े हों। वे आपकी भक्ति के बिना पूर्णतः नष्ट होते भी तो नहीं। 'राम भजन बिनु मिटहिं कि कामा।' अतः उन कामादि दोषों से आप ही मानस को शुद्ध कर दें।

प्रभु ने सेतुबन्ध पर रामेश्वर की स्थापना करके वहां भगवान शंकर के पूजनादि का माहात्म्य बतलाया है। गोस्वामीजी की मांग है बड़े मौके की। वह कहते हैं—आपने पूजन किया, मूर्ति स्थापित की ब्राह्मणों को कुछ दक्षिणा न देंगे ? आप रघुपति हैं, अतः आपको दक्षिणाहीन पूजन शोभित नहीं होता ?

विभीषण की भाँति यहां 'उर कछु प्रथम बासना रही' वाली बात है नहीं। आपने अंतर्यामी होने के कारण ही विभीषण का अन्तर देख लिया था। सिंधु का नीर मंगाकर उन्हें लंकेश बना दिया था। मेरा हृदय भी देख लीजिये ! यहां तो एक ही स्पृहा है, एक ही इच्छा है, आपकी अनन्य भक्ति मिल जाय।

अपने साधु-ब्राह्मणों के कष्ट निवारण का व्रत तो रखा है ? यह शंभु-स्थापना आपने साधु-द्वेषियों के वधार्थ की है ? दक्षिणा सांग होनी चाहिये ! अतः मेरे भी कुछ शत्रु हैं। ये शत्रु हृदय में ही डटे रहते हैं। इन कामादि शत्रुओं का भी लगे हाथ विनाश कर दीजिये ! कार्य आपके वेश के अनुरूप ही होगा और ब्राह्मण के दक्षिणा की सांगता हो जायगी। मेरी इच्छा पूर्ण हो जायगी। अब इधर उधर करने से काम चलने का है नहीं ! 'एवमस्तु' कहना ही पड़ेगा।

'अतुलितबलधामं स्वर्णशैलाभदेहं,
दनुजवनकृशानुं ज्ञानिनामग्रगण्यम् ।
सकलगुणनिधानं वानराणामधीशं,
रघुपति वरदूतं वातजातं नमामि ॥'

अतुलनीय बल के धाम, सुमेरु पर्वत के समान विशाल एवं कान्तियुक्त शरीर वाले, दैत्य समूह रूपी बन को दावाग्नि समान, ज्ञानियों में सर्वश्रेष्ठ, सम्पूर्ण गुणों के कोष, वानरों के स्वामी, श्रीराघवेन्द्र के श्रेष्ठदूत श्री पवनकुमार को नमस्कार ।

सुन्दरकाण्ड के चरित के प्रधान नायक तो हैं पवन कुमार । श्रीराघवेन्द्र तो अन्त में समुद्रतीर पर पहुँचते हैं। फिर भी मर्यादानुसार स्वामी का ही स्मरण प्रथम होना चाहिये था। कौशलेन्द्र के स्मरण के साथ उनसे सम्बन्धित स्मरण इस काण्ड का चरित भी प्रकाश में आगया। सारा चरित ही रिक्त रह जायगा यदि पवनात्मजका स्मरण न हो। अतः उन्हीं रघुपति वरदूत की प्रार्थना है।

अतुलित बलधाम हैं वे। किष्किन्धा के अन्त में ही उन्होंने कहा था जाम्बवन्त से 'कहो तो लंका को उखाड़ लाऊँ या समुद्र में डुबा दूं ?', उनके बल की तुलना में न रावण है और न कुम्भकर्ण। कोई भी उनका घूसा सह नहीं सकता। बलवान वह, जिसे शत्रु भी बलवान कहे। अहंकारी राक्षसेश्वर ने भी स्वीकार किया 'है कपि एक महाबल सीला' उनके बल का भला क्या पारावार। जिस पर्वत पर पैर रख कर कूदे थे वह 'चलि गयउ पताल तुरंता।' सिंहिका लंकिनी आदि थीं किस गिनती में ?

अक्षयकुमार और राक्षस समूह तो चपेटों में साफ हो गये। ब्रह्मास्त्र की मर्यादा रखनी थी नहीं तो मेघनाद को भी छठी का दूध याद हो आया था।

शरीर की बात न पूछिये। 'कनक भूधराकार शरीरा, माता जानकी की शंका के उत्तर में कपि ने जो निज देह प्रकट किया, वह तेजोमय आकाश तक फैला साक्षात कंचनगिरि था। समुद्र कूदने के समय भी वही विशाल शरीर और लंकादाह के समय भी। सच्ची बात तो यह है वह स्वर्ण शैलाभ देह ही निज देह है। बाकी रूप तो कामरूप होने के कारण प्रयोजन विशेष से धारण किये गये हैं। वे वास्तविक हैं नहीं।

राक्षसों के जंगल जैसे बड़े समूह को तो वे दावाग्नि ही हैं—दावाग्नि के समान नहीं। समान की चर्चा क्यों? स्वतः उन्होंने ही तो लंका को घास फूस के समान फूंक दिया। 'उलटि पलटि लंका कपि जारी' कोई कोना छोड़ा भी तो विभीषण का घर। अग्नि स्वरूप हुये एक से दूसरे मकान पर उछल रहे थे वे। भला अग्नि को अग्नि क्या जलावे? उन्हें ताप कैसा?

ज्ञानियों में उनकी गणना सर्व प्रथम होती है। सुरसा आई थी उनकी बुद्धि की परीक्षा लेने। 'देखि बुद्धि बल निपुन कपि' माता जानकी का भी निश्चय यही रहा उनके सम्बन्ध में। लंका-प्रवेश, सीतान्वेषण, विभीषण-मिलन और अशोक पर छिप रहना, पूरी निपुण प्रतिभा सूचित करते हैं। श्री जानकी जी से कितने नपे तुले शब्द कहे गये हैं और रावण के साथ की बात चीत तो नीतिज्ञता की चरम सीमा है।

वे कपि केशरी सकल गुण-निधान हैं। सभी सिद्धियां उनमें निवास करती हैं समुद्र लंघन, छोटा रूप बना लेना और नाग-पाश से निवृत्ति में बहुत से गुण प्रकाशित हो गये हैं। युद्ध-

कौशल उनका राक्षस ही जानते हैं। माता सीता से चिह्न मांगकर उन्होंने अग्रसोचिता दिखलाई। गुणों के निधान तो थे ही, उस पर जगज्जननी ने आशीर्वाद दे दिया 'गुणनिधि सुत होहू' उनके आशीर्वाद के पश्चात फिर शेष क्या रह जाता है ?

वानरों के वे अधीश्वर हैं। वानरराज तो सुग्रीव हैं न ? यह प्रश्न आप कर तो सकते हैं, पर मैं एक प्रश्न पहिले पूछलूं। द्वारिका के अधिपति उग्रसेन थे या श्रीकृष्ण ? राज सिंहासन पर तो उग्रसेन बैठते थे और वही यादव सम्राट भी कहे जाते थे, पर युद्ध में सहायता मांगने अर्जुन और दुर्योधन में से कोई भी उनके पास गया नहीं। दोनों सीधे श्रीकृष्ण के पास पहुँचे। बस, इधर भी कुछ ऐसी ही बात है। सुग्रीव को राजा बनाया पवनकुमार ने, और उन्होंने ही लक्ष्मण के कोप से पूर्व ही उन्हें सावधान भी किया। सच पूछा जाय तो वानरों के अधीश हनुमान जी ही हैं। मर्यादा की दृष्टि से वे भले सुग्रीव से आज्ञा मांगें या उनके सलाहकार बनें।

रघुपति के दूत तो सभी थे। सभी वानर रघुपति के दूत होकर ही सीतान्वेषण करने गये थे। लंका में अंगद भी एक बार रघुपति दूत बने। लेकिन श्रेष्ठ दूत तो वह जो स्वामी का बताया कार्य तो पूरा कर ही आवे, कुछ अधिक भी कर आवे। ऐसे श्रेष्ठ दूत श्री हनुमान जी ही हैं। उन्होंने श्री जानकी जी का पता लगाया, संदेश सुनाया, चिह्न लिया और साथ ही सिंहिका को मारकर चढ़ाई का मार्ग साफ कर दिया। राक्षसों का बल तौल लिया। रावण को समझाने के बहाने उसकी विद्या बुद्धि की थाह ले आये। सारे गढ़ को भस्म कर दिया और सभी मार्गों से परिचय प्राप्त कर लिया। इसे कहते हैं श्रेष्ठ दूत।

वे बात जात हैं। पिता-पुत्र से अभिन्न होता है। 'पवन तनय बल पवन समाना' और लंकादहन में पुत्र की सहायतार्थ ही तो 'चल्यो मरुत उनचास।' वायु की गति उनके पुत्र में आई है और पिता के समान ही वे महावीर निर्बाध गति हैं। सूक्ष्म से सूक्ष्म, गुप्त से गुप्त स्थानों तक उनका प्रवेश बेरोक हो जाता है। उन्होंने सीतान्वेषणार्थ रावण का पूरा अन्तःपुर देख डाला और किसी को उनके आने जाने का पता तक न लग सका।

इस प्रकार श्री पवनात्मज की स्तुति करते हुये उनके गुणों के सहारे उनका चरित मानस में अवतीर्ण हुआ है। सुन्दर-काण्ड का यह चरित प्रायः पूरा उन्हीं का है। कहीं उनका अतुलित बल प्रकट हो रहा है और कहीं स्वर्ण शैलाभ देह नेत्रों को चमत्कृत करता है। कहीं वे कृशानु बने दनुज बन को दग्ध कर रहे हैं और कहीं ज्ञानियों में अग्रगण्य बने उपदेश करते हैं। उनके नाना गुण प्रत्यक्ष हुये हैं इस काण्ड में वानरों का प्रधान नायकत्व एवं श्रीराम का सफल दूतत्व उन्होंने किया है।

उन श्री पवनात्मज को नमस्कार। यह नमस्कार भी रहस्य पूर्ण है। इस काण्ड का पाठ करके प्रणाम करने से वे प्रसन्न होते हैं। सभी अभीष्ट इनके पाठ से प्राप्त होते हैं–ऐसा सन्तों का मत है।

रामं कामारिसेव्यं भवभयहरणं कालमत्तेभसिंहं,
योगीन्द्रज्ञानगम्यं गुणनिधिमजितं निर्गुणं निर्विकारम्।
मायातीतं सुरेशं खलवधनिरतं ब्रह्मवृन्दैकदेवं,
वन्दे कन्दावदातं सरसिजनयनं देवमुर्वीशरूपम् ॥

श्री मदनारि शिवजी के परम सेव्य, भवभयहारी, काल-रूपी मत्त गजराज के विनाशक केशरी, योगीन्द्रों के ध्यान में प्राप्त होने वाले, गुणसागर, अजित, निर्गुण, निर्विकार, माया से परे, देव-देवेश, दुष्ट-वध में लगे हुए, ब्राह्मण वृन्द के एकमात्र देवता, नवजलधरश्याम, कमलनयन, भूपरूपधारी भगवान श्रीराम की बन्दना करता हूँ।

भगवान श्रीराम कामारि के सेव्य हैं। उनकी सेवा का परिणाम था कि भगवान शिव ने मदन को फूस की भांति भस्म कर दिया। लंकाकाण्ड की वन्दना के प्रथम श्लोक का प्रथम वाक्य ही सावधान करता है कि यह युद्ध काम प्रेरित अर्थात् सीता के लिये नहीं है। काम का नाश तो भगवान शिव ने कर दिया और राम उनके भी सेव्य हैं, अतः उनमें काम कहाँ?

यदि यह युद्ध काम-प्रेरित नहीं तो मुनियों के कष्ट निवारणार्थ होगा? अरे नहीं, अपने जनों का तो भव-भय इच्छा मात्र से दूर कर देते हैं। यह चढ़ाई भव-भय हरणार्थ है। यह रावण उनका निज-जन है। उस जन्म का। उसी की संसृति-हरणार्थ यह आयोजन हुआ है।

व्यर्थ की बात है। 'लोकवत्तु लीला कैवल्यम्।' उन्हें क्रीड़ा करना है। नहीं इन असुरों की कोई गिनती में गिनती है?

सम्पूर्ण संसार को निगल जाने वाले महामत्त गजराज के समान महाकाल को भी वे सिंह सदृश नष्ट कर देते हैं।

जाके डर अति काल डेराई।
जो सुर असुर चराचर खाई॥

वे भला असुरों के विनाशार्थ उद्योग करने वाले थे? ब्रह्मा के वरदान की रक्षा करनी है और क्रीड़ा भी करनी है।

इन असुरों के भाग्य तो देखिये। वे योगीन्द्रों को भी साक्षात् नहीं प्राप्त होते। योगीन्द्र भी ध्यान में यदा कदा उनका दर्शन पाते हैं और वही इन राक्षसों के सम्मुख उपस्थित हो गये हैं। उनके बाणों से या उनके जनों के द्वारा उनका दर्शन करते करते शरीर छोड़ेंगे।

वे गुणनिधि हैं। 'एक ही बान' में 'छत्र मुकुट ताटंक सब' काट देना या कुम्भकर्ण, रावणादि का वध, युद्ध-कौशल सब छोटी बातें हैं। वे अजित हैं। उन्हें कोई भी जीत नहीं सकता। उन सर्वेश, सर्वशक्तिमान को भला कौन जीत सकेगा। अतः लड़ाई के मध्य में उन्हें नागपाश-बद्ध या मूर्छित देखकर मोहित नहीं होना चाहिये। युद्ध का परिणाम सुनिश्चित है। श्रीराम अजेय हैं। आसुरी माया उन्हें आच्छादित नहीं कर सकती।

वे निर्गुण हैं। उनमें मायिक गुण हो तो आसुरी माया उनका स्पर्श करे। नियम यह है कि परस्पर सर्वथा विरोधी पदार्थों का मिलन या सम्पर्क सम्भव नहीं। भला रजोगुण एवं तमोगुण से उत्पन्न आसुरी माया उन निर्गुण को कैसे स्पर्श करेगी?

प्रभु निर्विकार हैं। क्रोध, मोह, शोक, क्षोभादि विकारों से सर्वथा रहित। असुरों की माया में सब के मोहित हो जाने

पर उनका एक ही तीर माया-हरण के लिये पर्याप्त होता है। उन सदा प्रसन्न मुख पर रोष की रेखा कभी कोई देख ही नहीं सकता। लक्ष्मण-मोह के समय का उनका विलाप शोकजन्य है नहीं। वह तो एक मानव-चरित दिखाने की क्रीड़ा है। यही दशा क्षोभ की है।

यह सब इसलिये कि वे मायातीत हैं। गुण और विकार माया में होते हैं। वे माया से परे हैं। माया के स्वामी हैं। 'माया प्रेरक सीव' हैं यह सब विश्व-क्रीड़ा उन्हीं की प्रेरणा से माया-द्वारा हो रही है। असुर जब उन माया पति से माया करना चाहते हैं तो उन्हें मुंह की खानी ही चाहिये।

उन निर्गुण निर्विकार मायातीत को अपनी योगमाया को आधार बनाकर यह क्रीड़ा इसलिये करनी पड़ी कि रावण को सुरश्रेष्ठ ब्रह्मा और शङ्कर जी ने वरदान दे दिया। उनके वरदान की रक्षा करनी है। वे सुरेश हैं। देवताओं के भी देवता। अतः देवश्रेष्ठों के बचन की मर्यादा की रक्षा उनके लिये समुचित ही है।

सुरश्रेष्ठों के बचन-मर्यादा-रक्षणार्थ वे खल-वध-निरत हुए हैं। वरदान पाकर वे असुर दुष्ट हो गये। उन्होंने विश्व का उत्पीड़न प्रारम्भ किया। विशेषतः गौ-ब्राह्मणों का। फिर वे ब्रह्म-वृन्दैकदेव इसे कैसे सह लेते ? उनका तो अवतार ही 'गो-ब्राह्मण हिताय' हुआ करता है। अतएव उन्होंने यह धनुष उठाया है और दुष्ट-वध में लगे हैं। प्रतिज्ञा कर रखी है 'निसिचर हीन करौं महि।' यह लंका की चढ़ाई नहीं है। वे तो कब से दुष्ट-दलन में लग चुके हैं।

उनका शरीर नवजलधर श्याम है और नेत्र कमल के समान हैं। अर्थात् वे खलवध में कहीं सातवें आसमान में बैठकर नही लगे हैं। सगुण साकार होकर धनुष उठाया है। एक बात और

अन्तिम। वे किसी दिव्य लोक से नहीं आये हैं। वे तो पृथ्वी-पति-नृपश्रेष्ठ का स्वरूप धारण किये श्री कौशलेन्द्र हैं। उन्हीं उर्वीशरूप नवजलद श्याम सरसिज नयन की बन्दना है यह।

भगवान शङ्कर तो इस युद्ध में अपने भक्त रावण की रक्षा करने से रहे, क्योंकि श्रीराम उनके सेव्य हैं। रावण ने काल को केवल बन्दी बनाया था और ये उसके विनाशक हैं। वह लोक रावण—संसार को रुलाने–भय देने वाला और ये भव के भय को हरण करने वाले हैं। उस दुष्ट ने बड़ी कठिनता से ऋषियों का रक्तदान पाया है, ये उन योगीन्द्रों के हृदयासन पर अर्चित होते हैं। वह गुणी होगा, पर ये गुणनिधि हैं। वह बालि-सहस-बाहु आदि से हार चुका है और ये अजेय हैं।

अब तक रावण बचा यों था कि प्रभु निर्गुण और निर्विकार हैं। ध्यान दिया नहीं। मायातीत होने से मायिक जगत की ओर दृष्टि न दी। लेकिन कब तक? देवताओं ने प्रार्थना की और उन सुरेश को सुनना पड़ा। अतः आज तो वे दुष्ट वध में लग चुके हैं। वे ब्राह्मणों के परम देवता हैं, अतः ब्राह्मणों का कष्ट नहीं सहन कर सके हैं। 'रावण मरन मनुज कर जाँचा।' सो प्रभु ने उस 'विधि बचन' को 'साँचा' करने के लिये नवजलद श्याम सरसीरुह लोचन, उर्वीशरूप धारण कर लिया है। उनकी यह बन्दना अग्रिम कथा का अच्छा प्रकाश है।

"शंखेन्द्वाभमतीव सुन्दरतनुं शार्दूलचर्माम्बरं,
कालव्यालकरालभूषणधरं गंगा शशाङ्कप्रियम्।
काशीशं कलिकल्मषौघशमनं कल्याणकल्पद्रुमं,
नौमीड्यं गिरजापतिं गुणनिधिं कन्दर्पहं शङ्करम् ॥

शंखोज्वल—चन्द्रगौर अत्यन्त सुन्दर शरीर वाले, श्रेष्ठ शार्दूल-चर्म पहिने कराल काल-सर्प का आभूषण धारण किये, प्रेम से श्री गङ्गाजी को मस्तक पर तथा चन्द्रमा को ललाट पर सजाये, काशीपति, कलि-कल्मष-समूह के विनाशक, कल्याण-कल्पवृक्ष, गिरजापति, गुणनिधि, कंदर्पनाशक श्री भगवान शंकर को नमस्कार।

भगवान शंकर शंख के समान उज्वल हैं। वे सत्वगुण की साक्षात् मूर्ति हैं। उनके अत्यन्त सुन्दर शरीर की कान्ति चन्द्रमा के समान है। राक्षस-राज उनका भक्त होगा, पर वह तामसिक और लोकोत्पीडक हो गया है। विश्वनाथ की मूर्ति सत्वगुणमयी और अपने शीतल प्रकाश से विश्वको हर्षित करने वाली है। लोक को रुलाने वाले से उनका सामंजस्य कैसा ?

श्रेष्ठ शार्दूल का चर्म उन्होंने धारण कर रखा है। बल-वानतर हिंसक का चर्म पहिनकर वे प्रत्यक्ष बता रहे हैं कि कोई चाहे कितना भी बलवान हो, विश्व के लिये आतंक बनने पर वह मेरा वध्य हो जाता है।

कराल काल सर्प उनके शरीर का आभूषण है। युद्ध की घोर विभीषिका और हिंसा से वे वितृष्ण नहीं होते और न उन्हें वह घृणास्पद ही लगता। वह तो प्रलयंकर हैं। कराल काल से क्रीड़ा

करना ही उनका काम है। असत् एवं दुष्ट को मिटा कर सत् एवं सुष्ठु के लिये वे पृष्ठ भूमि प्रस्तुत किया करते हैं। अतः यह लंका का युद्ध तो उनका विनोद ही करेगा।

संसार के सभी युद्धों से उस कैलाश के हिम-निवासी तपस्वी को कोई मतलब नहीं हुआ करता। वह तो अपनी समाधि में मग्न रहता है और प्रलय के समय तृतीय नेत्र खोलकर त्रिशूल एवं डमरू लिये उठता है। लेकिन इस युद्ध में वह तटस्थ न रह सकेगा। आरम्भ में सेतुबन्ध पर उसकी पूजा हो चुकी है। और युद्ध के नायक वे हैं जिनके चरणोदक होने के कारण गङ्गा जी को प्रेम से वह मस्तक पर रखता है। क्षीरसिंधु से प्रकट होने के कारण चन्द्रमा को जिन आराध्य का सम्बन्धी जान वह भाल पर धारण करता है। यह युद्ध उसके आराध्य का है। उस भूतनाथ को इसमें भूतों के साथ पधारना है।

वह शिव काशीपति हैं। उनकी काशीपुरी में मरने वाला कोई भी अधोगति प्राप्त नहीं करता। वे मृत्यु समय में कीट पतंग तक को तारक मंत्र कान में कहकर मुक्त कर देते हैं। जिनकी पुरी में मरने मात्र से निकृष्टतर प्राणी भी मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं, उन्हीं के श्री चरणों में मस्तक उपहृत करने वाला रावण, उनके उपासक असुर नीचगति पावेंगे? हो नहीं सकता।

बड़ा पापी है रावण। बड़े अधम हैं राक्षस। इसका उद्धार क्या सम्भव है? खूब सम्भव है। जिनके वे उपासक हैं। वे कलि के समस्त पाप-समूह के विनाशक हैं। उनके स्मरणमात्र से जन्मजन्मातर के पाप नष्ट हो जाते हैं। उन्हीं विश्वनाथ की कृपा का फल है कि इन अधम असुरों को प्रभु स्वयं 'निजधाम' देने पधारे हैं।

भगवान शंकर कल्याण-कल्पद्रुम हैं। उनकी शरण जाने के पश्चात् अंकल्याण नहीं होता। जो गति योगीन्द्रों को दुर्लभ

है, यह राक्षसों को मिली किसके प्रताप से ? एक बात अवश्य है, कल्पवृक्ष की भांति ही भोलेबाबा भी कल्याण का निश्चय स्वयं नहीं करते। जिसमें तुम्हें अपना कल्याण दीखे, मांग लो। जो मांगोगे-मिल जायगा। वैसे उनके शरणागत की अधोगति होती नहीं। किसी न किसी प्रकार उनका बेड़ापार हो ही जाता है।

वे गिरिजापति हैं। शक्ति उनकी सहधर्मिणी है। बिना शक्ति के भला कल्याण कैसा। युद्ध में विजय चाहिये, अतः गोस्वामी जी विजया के साथ ही उन भोले आशुतोष का स्मरण कर रहे हैं। गिरिजापति हैं वे, स्थिरता के अधीश्वर। युद्ध में स्थैर्य ही तो अभीष्ट है। जहाँ जगदम्बिका अन्नपूर्णा हैं, वहाँ सब गुण स्वतः रहेंगे। गुणनिधि तो गिरजापति होने वाले ही हैं। सभी गुण स्थैर्य के मुखापेक्षी हैं। स्थैर्य हो तो सभी गुण स्वयं आ जावेंगे।

कंदर्प नाशक हैं भगवान शिव। मदन अपने को त्रिभुवनजयी लगाता था। तीसरा नेत्र खुलते ही वह भस्म हो गया। उसका त्रिभुवनजयी का गर्व ही उसे ले डूबा और आज वही गर्व लंकेश के सिर सवार है। वह भी अपने को त्रिभुवनजयी समझने लगा है। रावण ने गर्ववश कोशलनाथ को छेड़ा है। उसके गर्व का भी वही फल होना है। विश्वनाथ एवं अवधनाथ दोनों गर्वहारी हैं। वे कोई भी यह गर्व सह न सकेंगे।

उन ईड्य, बन्दनीय भगवान शङ्कर को प्रणाम। वे विश्व-बन्द्य हैं। शङ्कर हैं। कल्याण का सृजन, रक्षण एवं पालन ही उनका स्वरूप है। लङ्का आज विश्व के अकल्याण का हेतु हो रही है। विश्व कल्याणार्थ ही श्री कौशलेन्द्र ने उस पर यह चढ़ाई की है भगवान शङ्कर को उन्होंने पहिले ही नमस्कार कर लिया है।

युद्ध की उस घोर राजसिकता में भी गोस्वामी जी ने क्या देखा है ? उन्हें वह पूरा युद्ध भगवान शङ्कर का साक्षात् स्वरूप ही दिखाई पड़ रहा है। वह बाणों की झड़ी, शोणित-प्रवाह एवं चीत्कार हैं सही, लेकिन उसकी पृष्ठ भूमि ? बड़ी ही उज्वल-शङ्ख के समान उज्वल तथा चन्द्रमा के समान स्निग्ध प्रकाश देने वाली है। जगत का वह आकुल हाहाकार शान्त हो जाता है।

यह हिंसा, यह शवों की भीड़—अरे नहीं ! भगवान शिव भयंकर शार्दूल चर्म पहिने हैं न ? इन क्रूर पशुओं जैसे पिशाचों का शव ही तो उनका आवरण है और यह विनाश उनका भूषण। वे काल ब्याल कराल भूषणधर हैं। यह काल की क्रीड़ा उनकी शोभा बढ़ाती है। इसमें है गंगा की पवित्रता और इन्दु की शीतल शान्ति। वे गंगा-शशांक प्रिय स्वयं पवित्र शान्ति ही चाहते हैं। इस अपवित्रता एवं अशान्ति का दमन किये बिना वह कैसे स्थिर रहेंगी।

वे काशीपति, कलिकल्मषौघ शमन एवं कल्याण कल्पद्रुम इन अधमों का कल्मषौघ इस बहाने शान्त करके उनका कल्याण करते रहे हैं। वे गुणनिधि हैं, उनमें हिंसादि दुर्गुण शक्य नहीं। वे कन्दर्पनाशक हैं, उनमें काम-क्रोध नहीं रह सकते। इस युद्ध के रूप में तो गिरिजापति—शक्ति के स्वामी वे शङ्कर-कल्याण-मूर्ति ही क्रीड़ा कर रहे हैं वे परम बन्दनीय हैं ! उन्हें नमस्कार !

'यो ददाति सतां शम्भुः कैवल्यमपि दुर्लभम् ।
खलानां दण्डकृद्योऽसौ शङ्करः शं तनोतु माम् ॥

जो भगवान शिव सज्जनों को अत्यन्त दुर्लभ मोक्ष भी प्रदान करते हैं तथा जो दुष्टों को दण्ड देने वाले हैं, वही भगवान शङ्कर हमारा कल्याण करें।

वे विश्वनाथ तो शम्भु हैं। कल्याण कर्ता हैं। किन्तु उनके कल्याण करने की परिपाटी दो हैं। सज्जनों को तो वे दुर्लभ कैवल्य भी वे देते हैं। आशुतोष ठहरे। झट से प्रसन्न हो जाते हैं। बेल के तीन पत्ते और आक-धतूर ही उन्हें तुष्ट करने के लिये पर्याप्त हैं। दुष्टों का भी वे कल्याण करते हैं, क्योंकि वे हैं ही शङ्कर। किन्तु दुष्टों का कल्याण करते हैं दण्ड देकर। बिना दण्ड दिये उनका सुधार कैसे होगा ! आन्तरिक सुधार के बिना अशुद्ध चित्त में वैराग्य नहीं होता और वैराग्य के बिना ज्ञान नहीं 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।' अतः सज्जनों को, शुद्ध चित्त वालों को तो वे सीधे ज्ञान देकर मुक्त करते हैं और दुष्टों को दण्ड देकर शुद्ध करने के पश्चात्।

रावण और दूसरे सभी राक्षस दुष्ट हो गये हैं। अतएव उन्हें दंड प्राप्त होगा और जब 'मरती बार कपट सब त्यागा।' होकर वे सज्जन बनेंगे, उस अन्तिम क्षण में उन्हें दुर्लभ कैवल्य प्राप्त हो जायगा। इस प्रकार सबका कल्याण करने वाले वे कल्याण-स्वरूप हमारा भी कल्याण करें। युद्ध की नाना जटिल लीलाओं में वे हमें मोहग्रस्त होने से बचावें।

षटचक्र साधन क्रम से आधिदैविक रूप में लंकाकांड आज्ञा-चक्र की साधना है। प्रत्येक कथा अपने ऐतिहासिक रूप में सत्य

होते हुये भी देव जगत में तथा अन्तर जगत में सत्य होती है। वस्तुतः अध्यात्म के अनुसार ही अधिदेव बनता है और उसी का व्यक्तीकरण अधिभूत है। नित्य दिव्य लोक तथा व्यक्ति में अन्तर्व्यूह ही अध्यात्म है। उसकी शक्तियों का प्रकृति में या मानस जगत में प्राकट्य अधिदेव है तथा वही अधिदेव जब व्यक्त होता है तो उसे हम अधिभूत या इतिहास कहते हैं।

अधिदेव एवं अध्यात्म सूक्ष्म हैं, अतः उनकी उपलब्धि का प्रकार भावना भेद से भिन्न भिन्न हो सकता है। जैसे एक पक्षी के शब्द में एक व्यक्ति एक तथा दूसरा दूसरी ध्वनि कल्पित कर लेता है, वैसे ही अधिदेव की उपलब्धि भावना भेद से भिन्न-भिन्न प्रकार से होती है। वैसे इन सब भावनाओं में मौलिकता एक ही रहती है।

प्रकाश-पथ के प्रारम्भिक अध्याय में हम बता आये हैं कि किस प्रकार शरीर के योग द्वारा नियत चक्रों के अधिष्ठाता देवताओं से शक्ति प्राप्त होती है। उस प्रथमाध्याय में मूलाधार का संकेत है। बालकांड उसी प्रथम चक्र का चरित है। उसे आप कुण्डलिनी का जागरण कहें या प्रभु का अन्तर्जगत में प्रादुर्भाव।

प्रथम चक्र के अधिष्ठाता गणेशजी हैं और उस चक्र के भेदन से प्रतिभा की उपलब्धि होती है। 'बन्दे वाणी विनायकौ' में गोस्वामी जी ने वाणी के लिये विनायक को वहां जगाया है। इसे हम वहां पर्याप्त विस्तार दे चुके हैं। अब शेष पर दृष्टि डाल लें।

दूसरा चक्र है, शक्ति चक्र। बड़ी कठिनाई होती है साधक को यहां। कभी तनिक सी आशा आ जाती है, कभी तनिक

शान्ति झलक दे जाती है, पर अधिक तो कष्ट ही मिलता है उसे। पीड़ा, शोक, पश्चाताप, विकारोदय, सभी होता है यहां। वह समझता है, मेरा पतन हो गया—पर नहीं, अन्त में उसे शान्ति मिल जाती है।

गोस्वामी जी ने अयोध्याकांड के प्रारम्भ में ही अंकगत भूधर सुता शिव की वन्दना की है। उन्होंने गरल, व्यालराट् आदि के साथ बाल विधु प्रभृति से चक्र का स्वरूप प्रगट किया है। अयोध्याकांड में करुणरस का स्रोत है। यहां साधक को फूट फूटकर रोना ही है। सर्वव्यापक शशिनिभ-सत्वगुण की मूर्ति भगवान शिव से वे यहां रक्षा चाहते हैं। सत्वगुण में स्थिर रहने का दृढ़ प्रयत्न ही यहां सुस्थिर रख सकता है साधक को।

तीसरा स्थल आता है नाभि चक्र। इसके अधिष्ठाता ब्रह्माजी हैं। यहां सिद्धि स्थान है। यहां सिद्धियों की उपलब्धि होती है। साधक के सामने मिथ्यादृश्य, मिथ्या प्रलोभन एवं मिथ्यादेश आते हैं। यदि वह सावधान न रहा तो फिर गया। आदेश और रूपों में यहां तथ्य कुछ नहीं होता। सिद्धि के फेर में पड़ने से शान्ति सदा के लिये नष्ट हो जायगी और अहङ्कार बलवान हो जायगा।

यहां स्वः सम्भवं—ब्रह्मा जी के पुत्र रूप में भगवान शिवकी वन्दना है। सब कहीं शिव वन्दना इसलिये कि भगवान शिव गोस्वामी जी के गुरु तो हैं ही इस कुण्डलिनी मार्ग के भी गुरु हैं। कनक मृग का भ्रम और उस असुर की लक्ष्मण के लिये श्रीराघवेन्द्र के स्वर में पुकार तथा सीता हरण इस कांड की कथा है। चोरी से ही रावण सीता-हरण करता है। अहङ्कार कभी अहङ्कर्ता पर प्रत्यक्ष होकर नहीं आता। यहां तो धैर्य रखना है। ब्रह्मकुल-साधकों का दोष दूर करने वाले भगवान शिव स्वतः

रक्षा करेंगे। किसी दृश्य या सन्देश पर ध्यान न देने की आज्ञा है। क्योंकि यहां 'कामरूप जानहिं सब माया।' वालों की भरमार है।

चौथा तो हृदय का आराध्य चक्र है। यहां तो दोनों भाई सीतान्वेषण में लगे प्राप्त हो जाते हैं। सुग्रीव-मित्रता हो जाना है यहां। साधक यहां बहुत कुछ आश्वस्त हो जाता है। वह स्थिर हो सकता है। उसकी विकसित शक्तियां स्वतः अपना कार्य करती हैं। उसे तो केवल आराध्य का ध्यान करना है। प्रभु यहां चतुर्मासा करेंगे और बानर जावेंगे सीतान्वेषण में।

आराध्य का स्मरण करते हुये ही गुरु के सम्मुख उपस्थित होना ठीक होता है। पाचवां कण्ठ चक्र शिव स्थान या गुरुचक्र है! आराध्य बन्दना के पश्चात् अन्त में गोस्वामी जी ने हनुमान जी की बन्दना की है। महावीर जी रुद्र ही तो हैं! सीतान्वेषण यहां हो जाता है और समुद्र किनारे तक पहुँचना भी। मार्ग का पूरा प्रकाश गुरुचक्र में गुरु मूर्ति से यहां मिल जाता है और साधक आज्ञाचक्र तक पहुँचने का मार्ग प्राप्त कर लेता है। उसे पता लग जाता है, आज्ञाचक्र विजित हुआ और शान्ति प्राप्त हुई।

अब आइये छठे आज्ञा-चक्र में। यहीं रावण वध होगा, सीता प्राप्ति होगी। लेकिन साकेत यह नहीं, आगे है। यहां से ऊपर जाना है। यह अहंकार का स्थान है। यही त्रिपुटी-त्रिकूट पर बसी लंका है। इस पर विजय होते ही सविकल्प समाधि हो जाती है। यह लिङ्ग चक्र कहलाता है। यहां प्रकृति चिह्न रूप में है। अतः यहाँ भव-भय-हरण, कालमत्तेभसिंह, निर्गुण, निर्विकार, मायातीत की बन्दना है। माया का ऊपर लेश नहीं। वह यहीं छूट जायगी।

आगे तो पुष्पक से जाने की बात है जो इच्छागामी है साधन की सीमा यहीं तक है। प्रभु कृपा साध्य है, साधन साध्य नहीं। उनके चरणों में पहुँचने की इच्छा उनकी कृपा के सहारे यहां से झट ऊपर फेंक देती है। विहंगम मार्ग है ऊपर का। अन्त में तो सहस्र दल पर - साकेत के सिंहासन पर राज्याभिषेक है। युगल सरकार की वह छटा उत्तरकांड में मिलेगी।

'केकीकण्ठाभनीलं सुरवर विलसद्विप्रपादाब्जचिह्नं
शोभाढ्यं पीतवस्त्रं सरसिजनयनं सर्वदा सुप्रसन्नम् ।
पाणौनाराचचापं कपिनिकरयुतं बंधुना सेव्यमानं,
नौमीड्यं जानकीशं रघुवरमनिशं पुष्पकारूढरामम् ॥

मयूर की गर्दन के समान चमकता हुआ नीलवर्ण, श्रेष्ठ [विशाल] वक्ष पर विप्रवर के चरण कमलों का चिह्न भृगुलता, शोभाधाम, पीताम्बर पहिने, कमल-नयन, सर्वदा सुप्रसन्न, हाथ में धनुष-बाण लिये, बानर समूहों से युक्त, भाई लक्ष्मण द्वारा सेवित, पुष्पक विमान पर बैठे, जानकीश श्रीराघवेन्द्र को हम निरन्तर नमस्कार करते हैं।

बड़ा मृदुल तथा चमकता वर्ण होता है मयूर की गर्दन का। श्री राघवेन्द्र का वर्ण वैसा ही नीलाभ है। युद्ध में उस वर्ण पर न तो क्षत के चिह्न पड़े हैं और न आघात जन्य कालिमा। मयूर की गर्दन के समान वह एक समान है। उसमें चमक है। इतने बड़े महासंग्राम में भी उस वर्ण पर रुक्षता नहीं आई है।

कौन कहता है कि रावण ब्राह्मण था। पुलस्त्य कुल का होने से ही तो वह ब्राह्मण नहीं हो जायगा। उसकी माता राक्षसी थी और वह मातृपक्ष में ही रहा। अतः वह मातृकुल का ही हुआ। ऋषियों ने—जैसे व्यास ने पांडु, धृतराष्ट्रादि का जन्म अपने वीर्य से कराया, तो क्या वे पुत्र पाराशर कुल के हो गये ? उस समय पुत्र जिस ओर, पिता या माता की ओर जाता था, उसी जाति का माना जाता था। यदि रावण ब्राह्मण होता तो कौशलेन्द्र उसका वध करते ! वे तो अपराधी ब्राह्मण के भी चरण-चिह्न आदर से हृदय पर धारण करते हैं। उनके वक्ष की भृगुलता यथेष्ट सूचित करती है।

भृगु ने उनका अपमान किया, उन पर पाद-प्रहार किया प्रभु ने चरण दबाया उनके और उस चरण का चिह्न धारण कर लिया। रावण ने गो-ब्राह्मण एवं उनके जनों को कष्ट दिया और वह उनके हाथों मारा गया। प्रभु अपना अपराध तो गिनते ही नहीं और अपने जनों के अपराध करने वाले को क्षमा करना नहीं जानते!

वे शोभाढ्य हैं। 'सोभा सिन्धु सुभग रघुबीरा' ब्राह्मण के चरण का काला दाग उस नील विशालवक्ष पर शोभा ही पाता है। वह और शोभा को बढ़ा देता है। उस पर सरकार ने पीताम्बर धारण कर लिया है। शोभा चौगुनी चमक गई है। अभी प्रभु पुष्पक पर हैं। अयोध्या पहुँचे नहीं। बन में उनके शरीर पर बल्कल है। वही बल्कल उस छटा में पीताम्बर हो गया है। कैसे! हम आरण्यकांड के मंगलाचरण में इस पर प्रकाश डाल आये हैं।

कमल के समान बड़े-बड़े नेत्र हैं। श्रीमुख तो सर्वदा सुप्रसन्न रहता है। यह क्या कहने लगे गोस्वामी जी? इन कमल नेत्रों से जानकी–वियोग और लक्ष्मण-मूर्छा के अवसर पर क्या कम अश्रु-वृष्टि हुई है? फिर सर्वदा सुप्रसन्न कैसे? गोस्वामी जी की दृष्टि मुखाम्बुज ओपर सर्वदा स्थिर रही है। उन्होंने इसी से उन मानव नाट्योंका रहस्य समझा है। यहां वे उस रहस्य को स्पष्ट खोलकर बताये दे रहे हैं कि वह सब नाटक ही था। प्रभु तो सर्वदा सुप्रसन्न रहते आये हैं।

दाहिने हाथ में वही महाशायक और बायें में धनुष है। बन में चले थे इसी छटा से। आज देव–कार्य पूरा करके उसी शोभा से लौट रहे हैं। इसी बाण और इसी कोदंड ने सब पूरा कर दिया। अभी बाण त्रोण में नहीं गया है। यदि 'निसिचर

हीन करौं महि' वाली प्रतिज्ञा में किसी को कुछ कोर कसर दिखाई दे तो कहे। वह भी लगे हाथ पूरी हो जायगी।

साथ में कपिनिकर हैं। बड़े-बड़े सेनानायक पुष्पक पर प्रभु की ओर मुख करके उन्हें घेरे बैठे हैं। चार, छः नहीं, 'पद्म अठारह यूथप' थे और यूथप तो साथ लिये ही गये। आज का हवाई जहाज पुष्पक के एक कोने में रखा होता तो ऐसा ही जान पड़ता कि किले की दीवार पर एक मक्खी बैठ गई हैं।

छोटे भैया सेवा में तत्पर हैं। वे कभी नीचे देखकर मार्ग बतलाते हैं और कभी जल लाने दौड़ते हैं। कुछ काम न रहने पर सिंहासन के पीछे खड़े होकर पुष्पक में रखे चँवरों में से एक लेकर चंवर करने लगते हैं। प्रभु की इंगित का बराबर ध्यान रखते हैं।

आज तो प्रभु जानकीश हो रहे हैं। महारानीजी उस विमान के मणि जटित सिंहासन पर बामभाग में विराज रही हैं और प्रभु उन्हें नीचे का दृश्य दिखलाते जाते हैं। उनका परिचय भी देते जाते हैं। ऋषियों के आश्रमोंके आने पर प्रणाम करने को कहते हैं और स्वयं करते भी हैं। आज अधिकांश वे श्रीजानकी-जी से ही वार्तालाप में लगे हैं।

आज वे अयोध्या जा रहे हैं, वहां के राजसिंहासन को भूषित करने के लिये। उसकी झांकी पुष्पक पर ही उपस्थित है। पुष्पक के सिंहासन पर महारानी जी के साथ वानर यूथपों के मध्य में भाई द्वारा सेव्य वे रघुबीर ही तो हैं। रघुवंश के सिंहासन पर बैठने की छटा यही तो होगी।

पुष्पकारूढ़ श्रीराम की अनिश-निरन्तर बन्दना। उन्हें सतत नमस्कार। सरकार का पुष्पक मन की गति से जाता है। दूसरी सवारी इतनी तीव्र न चल सकेगी। इस समय तो आप आरूढ़ ही हैं, बैठने की भी देर नहीं। अतः इसी रूप में सतत प्रणाम!

स्मरण करते ही न पहुँचने में विलम्बका कोई कारण है नहीं और यहां इच्छा निरन्तर सान्निध्यकी है। अतः सतत प्रणाम प्रभु !

उत्तरकांड की प्रथम बन्दना है यह। युद्ध का परिणाम इसमें स्पष्ट है। अंग अक्षत है। उस पर कोई आघात-चिह्न नहीं। वह केकीकंठाभ एकरस मृदुल है। हृदय के चिह्न को कहीं आघात चिह्न न समझ ले ! वह तो भृगुलता है प्रभु अपने अपराध पर रावण को छोड़ भी देते पर वह विश्व-द्रोही था।

वे शोभा के समुद्र हैं ही। आज की शोभा विजय जन्य नहीं है। उन्होंने पीताम्बर पहिना है। इतना बड़ा संग्राम हुआ, पर उनका वस्त्र पीला ही रहा। उस पर रक्त के छींटे पड़े नहीं। 'सोनितकनी' पड़ी भी थीं तो कहीं कहीं श्रीअंग पर और वे धुल गईं। वस्त्र तो पीत ही बना रहा। उनके कमल नेत्र सदा खिले रहे। वे सर्वदा सुप्रसन्न रहे। रोष आया ही नहीं। रोष आया होता तो राक्षसों को अपना धाम देते ? वे तो सदा सुप्रसन्न रहे। इसी प्रसन्नता में मोक्ष लुटाया जाता रहा।

हाथ में धनुष-बाण है। बाण अमोघ है और लौट आया करता था। एक बाण भी नष्ट नहीं हुआ। धनुष को भला कोई क्या काटता ? वह तो शारङ्ग है। दोनों विजय-अक्षुण्ण विजय के प्रतीक हैं। कपि समूह घेरकर बैठे हैं। कोई सैनिक खोया नहीं गया। मरे भी जीवित कर लिये गये।

छोटे भैया पूर्ववत् सेवा में लगे हैं। महारानी जी साथ हैं। बन आते समय जो कुछ लाये थे, बाण-धनुष, स्त्री-बन्धु सब साथ हैं और कपिनिकर तथा पुष्पक और लेकर लौट रहे हैं। लौटते ही अभिषेक हो जायगा। यह सूचना पुष्पक की छटा ही दे रही है।

'कोसलेन्द्रपदकञ्जमञ्जुलौ,
कोमलावजमहेशवन्दितौ ।
जानकीकरसरोजलालितौ,
चिन्तकस्यमनभृङ्गसङ्गिनौ ॥'

श्री कौशलेन्द्र के मंजुल कोमल चरणारविन्द ब्रह्मा एवं शिव के द्वारा बन्दित, जगज्जननी जानकी जी के कर कमलों द्वारा लालित एवं ध्यान करने वाले के मानस भृङ्ग के साथी—निवास स्थान हैं।

प्रभु अब सिंहासनासीन हो चुके हैं। अभिषेक समाप्त हो गया है। अब वे कौशलेन्द्र हैं। केवल उत्तर कोशल, भारत या पृथ्वी के ही वे महाराज नहीं हैं। उन महाराजाधिराज के कोमल मंजुल पदकंज अज एवं महेश बन्दित हैं। त्रिलोकेशों पर भी उनका शासन है।

माता जानकी उन पदपद्मों को बड़े प्रेम से अपने कोमल कमल करों से दबाती हैं। बड़े धीरे-धीरे उन्हें लालित करती हैं। बड़े सुकुमार चरण हैं वे चिन्तन करने वाले के मन भृङ्ग के साथी हैं। साधारण कमल भ्रमर का साथी नहीं होता। भ्रमर को ही कमल के पास आना पड़ता है। वह कमल तो स्थिर—जड़ होता है। सरकार के ये चरण कमल चिन्तक के मन के साथी हैं। चैतन्यघन दयासागर के श्रीचरण जो हैं। यदि ध्याता का मन कहीं चंचल होकर भागे भी तो जहाँ वह जायगा, वहीं ये पहुँच जायँगे। प्रत्येक पदार्थ एवं भावों में उसे आराध्य के श्रीचरण दृष्टि पड़ेंगे। तभी तो गोस्वामी जी ने 'सीयराम मय सब जग जानी' कहा है।

अब आप अन्तिम सहस्रदल कमल पर पहुँच चुके हैं। मध्य की कर्णिका पर क्रमशः सूर्य, चन्द्र और अग्नि की प्रतिष्ठा हो गई है। उस पर दिव्य मणि जटित सिंहासन पर आराध्य आसीन हैं। उनके श्रीचरण एक मंजुल पाद पीठ पर रखे हैं। नखमणियों की शीतल कान्ति कोटि-कोटि चन्द्र सूर्य को लज्जित करने वाली है। आनन्द ! शान्ति ! प्रकाश ! केवल शुद्ध सच्चिदानन्दघन !

ब्रह्मा और शिव, जगत की स्रष्टा एवं विनाशक शक्ति उन श्रीचरणों के आगे हाथ जोड़े नित रहती हैं। उन पदनखों का प्रकाश ही समस्त शक्तियों का उद्गम है। निर्माण और विनाश वहां पहुँच नहीं सकते। उनके अधिष्ठाता भी दूर से उन श्रीचरणों की बन्दना करते हैं। यहां आकर साधक जरा-मृत्यु से रहित एवं जन्म-मरण से त्राण पा जाता है।

श्री जानकी जी नीचे बैठकर अपने कर कमलों से उन श्रीचरणों की सेवा किया करती हैं। आदि शक्ति योगमाया उन श्रीचरणों में उपस्थित रहती हैं। उनकी सेवा करती हैं। वहाँ पहुँच कर साधक को फिर क्या अभाव ? उसे कौन सी शक्ति दुष्प्राप्य रह गई ?

ध्यान के द्वारा यहाँ तक पहुँचने वाले साधक के वे पादपद्म साथी हैं। 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखायौ' जीव और ब्रह्म सखा ही हैं। वह आनन्दकन्द सब का सखा है। वहां तक पहुँचने पर वे पद्सरोज उस ध्यान करने वाले के मन भृङ्ग के साथी हो जाते हैं। फिर पतन नहीं होता। उस आनन्द सौन्दर्य सागार को देखकर मन फिर जायगा भी कहां ? यदि प्रारब्ध-वशात् भटका भी तो वे चरण सामने ही दिखलाई पड़ते हैं। एक बार माया यवनिका हटने पर पुनः प्राप्त नहीं होती।

'योगः कर्मसु कौशलम्' और उस कुशलता के अधीश्वर प्रभु हैं। अतः आज वे कौशलेन्द्र हैं। 'राम अतर्क्य बुद्धि मन बानी' सो उनके स्वरूप के विषय में कुछ कहना ठीक नहीं। उनके श्रीचरण जो बड़े कोमल हैं और मंजुल हैं। वही ध्यान में रखना चाहिये। दूसरा सब तर्क जाल झमेला है। श्री गौरांग महाप्रभु ने सुन्दर कहा—

श्रीकृष्ण चरणाम्भोजं सत्यमेव विजानताम्।
जगत्सत्यमसत्यं वा नेतरेतन्मतिर्मम ॥'

'श्रीकृष्ण के चरणारविन्द सत्य ही हैं, ऐसा अच्छी प्रकार जान लेने पर मेरी बुद्धि इस ओर जाती ही नहीं कि संसार सत्य है या असत्य।' सो उन मंजुल पदकंजों से ही मतलब रखना श्रेयस्कर है।

यों तो सत्व-रज-तम की त्रिपुटी आज्ञा चक्र में ही समाप्त हो चुकी है, पर यहां प्रभु के श्रीचरणों तक तो उनके दिव्य अधिष्ठाता भी बन्दनार्थ ही पहुँचते हैं। प्रभु का श्री विग्रह दिव्य सत्व को तटस्थ उपादान बनाकर व्यक्त हुआ है। वैसे 'हरि व्यापक सर्वत्र समाना' हैं वे। दिव्य रज के अधिष्ठाता ब्रह्माजी तथा दिव्य तमस के अधिष्ठाता शङ्करजी उनके चरणों की बन्दना करते हैं। दिव्य रज एवं तमका भी वहां स्थायी प्रवेश नहीं।

योगामाया उन चरणों की सेवा करती हैं। उनके कर सरोज के आधार से ही तो यह सगुण अभिव्यक्त है। अविद्या की तो वहां पहुँच ही नहीं। वहां 'मोह निसा लवलेसा' भला कहां? अवश्य ही विद्या-प्रभु की अभिन्न-शक्ति, जिनको उपादान बनाकर वे 'निर्गुण नाम न रूप' सगुण नाम-रूपधारी होते हैं, वही योग-माया उन चरणों को लालित करती हैं।

जीव पहिले से ही उन चरणों का साथी है और वे चरण उसके। श्रुतियों में इसे हंस कहकर बतलाया गया है। अपने

अहंकार या अविद्या के कारण वह वहां से पृथक् हुआ। कब से पृथक हुआ ? कुछ पता नहीं। इसो से अनादिकाल से कहते हैं। तब से, जब का अनुमान करना भी बुद्धि की शक्ति से परे है।

विश्व की समस्त क्रियाशीलताओं का एक ही अर्थ है, अन्तर की निरन्तर बनी रहने वाली उद्दाम अतृप्ति का एक ही उद्देश है, जोवन के यावत् संघर्षों एवं हलचलों में एक ही मतलब है—नित्यतृप्ति, शाश्वत आनन्द और यह प्राप्त नहीं हो सकता तब तक, जब तक कि वे मंजुल पदकंज साथी नहीं बन जाते। नित्य आन्द उनसे बाहर है ही नहीं। वाह्य आनन्द तो केवल मिथ्याभास है।

उन पदकंजों को संगी बनाने के लिये अपने मनको उनका भृंग बनाना होगा। चिन्तक बनना होगा उन चरणों का। चिन्तन—ध्यान के द्वारा वे उपलब्ध होते हैं। मूलाधार से यह सहस्रदल तककी गति केवल ध्यान से हुई है। जपादि सभी क्रियायें गौण हैं। ध्यान ही प्रधान है।

ध्यान क्या अर्थ रखता है ? गोस्वामी जी उसे चिन्तन कहते हैं। आप जप करें या पाठ, पूजा करें या तपस्या, यदि उसमें मन साथ न हो, वह कहीं दूसरी उधेड़ बुन में हो तो सभी क्रियायें कोरे कर्म बनकर रह जायंगी। उनसे पुण्य तो होगा, पर प्रभु पुण्य से नहीं प्रेम से मिलते हैं, प्रेम हृदय का धर्म है। वह स्मृति से—चिन्तन से होता है। सारे कार्यों का एक ही उद्देश्य है, उन चरणों की सदा स्मृति रहे। ऐसी नित्य स्मृति जिसे हो उसी चिन्तक के मन भृंग के वे श्रीचरण सरोज साथी हैं।

'कुन्दइन्दुदरगौर सुन्दरं,
अम्बिकापतिमभीष्ट सिद्धिदम् ।
कारुणीक कलकंजलोचनं,
नौमिशंकरमनङ्गमोचनम् ॥'

कुन्दके पुष्प के समान तथा शंख के समान धवल एवं सुधाकर सदृश प्रकाश पूर्ण गौर सुन्दर, माता पार्वती के पति, अभीष्ट सिद्धिदाता, करुणामय, सुन्दर कमलनेत्र, तथा मन्मथ-मर्दन भगवान शङ्कर को नमस्कार।

उत्तरकाण्ड की अन्तिम प्रार्थना है यह। सिंहासन स्थित महाराज की झांकी हो चुकी है। अब कथा के उत्प्रेरक गुरु के प्रति यह कृतज्ञता ज्ञापन है। गोस्वामी जी मानस के आदि-गुरु को प्रणाम करते हुये अपने प्रति की गई कृपा पर कृतज्ञता प्रकाश कर रहे हैं।

शंख, कुन्द और इन्दु तीनों उज्ज्वल हैं, फिर गौर सुन्दर कहने के लिए दो विशेषण क्यों ? कुन्द उज्वल है, पर उसमें प्रकाश नहीं और इन्दु उज्वल तथा प्रकाश युक्त है तो कालिमा युक्त भी। भगवान शंकर कुन्द के समान निष्कलंक धवल हैं, साथ ही इन्दु के समान प्रकाश मंडित उनकी शरीर कान्ति है। कुन्द कुम्हला जाता है, इन्दु घटता बढ़ता है, पर उनकी कांति, उनकी उज्वलता शंख के समान नित्य एक रस स्थायी है।

आरम्भ में 'श्रद्धा विश्वास रूपिणौ' बंदना करते हुये 'भवानी शंकरौ' की वन्दना की गई थी। मानस का कार्य स्वान्तस्थ ईश्वर का दर्शन दोनों की कृपा से ही हुआ। दोनों की कृपा से ही यह चरित मानस नेत्रों के सम्मुख प्रत्यक्ष हुआ, अतः कृतज्ञता ज्ञापन

के समय भी दोनों का स्मरण आवश्यक है। इसी से भगवान शङ्कर को अम्बिका पति के रूप में स्मरण किया गया। उन जगज्जननी के प्रति इसके अतिरिक्त कृतज्ञता हम प्रकट कर भी क्या सकते हैं कि उन्हें मां !' अम्बिका भर कहदें। बच्चे की यही सबसे बड़ी कृतज्ञता है !

'अभीष्ट सिद्धिदम्' भगवान शिव अभीष्ट सिद्धि-दाता हैं। वांछा कल्पतरु हैं। उनका नाम ही आशुतोष है। यह बात केवल सुनी सुनाई नहीं। गोस्वामी जी अपना अनुभव कह रहे हैं। उन्होंने जो कुछ चाहा, जैसे चाहा, वह सब पूर्ण हुआ। पहिले के विशेषतः बालकाण्ड के प्रकाश-पथ को एक बार देख जाइये। उन्होंने अपने मानस को सर्वत्र बन्दनीय करना चाहा था और वह हो गया।

वे परम प्रभु करुणामय हैं। उन दयासिन्धु को दया बहुत शीघ्र आती है। गोस्वामी जी मानों अत्यन्त द्रवित कंठ से कह रहे हैं 'प्रभु, मैंने न तो आपकी पूजा की और न पाठ। आपके लिये कुछ भी तो नहीं किया मैंने। फिर भी आपने कहते ही मुझ पर कृपा की, अकारण कृपालु हैं आप।'

ओह ! उस कल कंज त्रिलोचन का पूछना ही क्या ! जिधर दृष्टि घूम गई, सुख-सौन्दर्य एवं आनन्द की वर्षा हो गई। सुन्दर कमल से नेत्र हैं। उनमें सौन्दर्य है, सुरभि है, माधुर्य है ! वे शिव हैं सत्य हैं सुन्दर हैं। उनकी दया-दृष्टि विश्व में इसे ही वितरित करती है।

अनंगमोचन हैं न वे ? उनके शरणागत के मन में विकार कैसे आ सकते हैं। गोस्वामी जी ने प्रार्थना की थी कि इस मानस-निर्माण में 'सुगम अगम नाना चरित' भ्रम में न डालें। मन में विकार न आवें। वह हो गया। उस अनंग मोचन की कृपा से विकारों ने बाधा नहीं दी।

श्रीरामचरित मानस भगवान शङ्कर के मानस से निकला है। 'रचि महेस निज मानस राखा।' मानस पूर्ण स्वभाव एवं व्यक्तित्व का स्वरूप होता है। वह व्यक्तिका प्रतीक होता है। अतः रामचरित मानस भगवान शिव का प्रतीक, उन्हीं का समान गुणधर्मा हो तो आश्चर्य क्या? ग्रन्थ की अन्तिम बन्दना में गुरु के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन और साथ ही साथ ग्रन्थ का स्वरूप प्रकट करना भी अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। इस बन्दना में कृतज्ञता-ज्ञापन के साथ पाठक को ग्रन्थ के सम्बन्ध में प्रकाश दिया गया है।

ग्रन्थ के उपयोग में तीन सत्ता होती हैं। श्रोता, वक्ता एवं ग्रन्थ। यहां कहा गया है कि तीनों सतोगुणी होने चाहिये। श्रोता हो कुन्द के समान कोमल चित्त एवं श्रद्धा-सुरभिसे पूर्ण। वक्ता को प्रकाशमय इन्दु होना चाहिये। उसमें ज्ञान का प्रकाश तो हो, पर तीव्रता नहीं। अमृत वर्षा करने वाली स्निग्धता होनी चाहिए। शिष्य के प्रति उसका अनुराग होना चाहिए। ग्रन्थ तो शंख के समान पवित्र एवं उज्वल है ही। सुवक्ता का मुख लगते ही उसका ज्ञानमय घोष दिशाओं को ध्वनित कर देगा।

उसके पठन-श्रवण से होगा क्या? जगदम्बिका भक्ति का प्रादुर्भाव! वह 'मानस' उनका स्वामी है। श्रीराम स्वरूप ही है जो वह। साथ ही अभीष्ट की सिद्धि भी। जो कुछ चाहोगे, वह प्राप्त होगा। यह रामचरित मानस तो कल्पतरु है। जिस किसी भी इच्छा से इसका आश्रय लोगे, वह निश्चय ही पूर्ण होगी।

ऐसा इसलिए कि मानस भगवान बड़े करुणामय हैं। इनके कमल लोचनों की कृपा सदा सब पर रहती है। 'भाव कुभाय अनख आलसहू।' स्मरण करने पर 'मंगल दिसि दसहू' करने वाले श्रीराम नाम की इनमें प्रतिष्ठा हुई है। 'एक घरी, आधी-

घरी आधिहु में पुनि आध।' आश्रयण में बहुत अधिक समय लगता भी नहीं है।

अनंगही समस्त विकारों का राजा है। मानस के आश्रयण से जब वही नष्ट हो जाता है तो दूसरे विकार टिक कैसे सकते हैं। विकारों की व्याधि से परित्राण पाना हो तो मानस का आश्रय लेना चाहिए। मानस तो शङ्कर-कल्याण कर्ता है। उसका पाठ, श्रवण, मनन, यहां तक कि नमस्कार भी कल्याण प्रद है।

सहस्रदल कमल पर शुद्ध स्वरूप आराध्य के दर्शन हो चुके। फिर भी शिष्य तो शिष्य ही रहेगा। इतना सब कैसे हुआ? क्या हुआ गुरु की कृपा से हुआ। क्या हुआ का प्रकार बताया जा रहा है, इस श्लोक में। एक प्रकार से वह अपनी वर्तमान स्थिति बतला रहा है।

त्रिगुणों से पार साधक विशुद्ध त्रिरूपात्मक सत्व स्वरूप हो गया है। वह दिव्य सत्व जो जो इस समय साधक का स्वरूप है, कोमल, ज्योतिर्मय एवं एक रस है। कुन्द-इन्दु-दर से यह सूचित किया गया। इस समय शक्ति पर-आदि शक्ति कुण्डलिनी पर उसका अधिकार है। वह उसका स्वामी है और सब सिद्धियाँ उसे प्राप्त हैं। दूसरों को भी वह अभीष्ट दे सकता है।

अब उसमें स्वार्थ नहीं रहा, सुखेच्छा नहीं रही, फिर भी वह कर्म करता है। क्यों करता है? इसलिए कि वह करुणामय हो गया है। जीवों का कष्ट उससे देखा नहीं जाता। सब पर उसके कल कंजलोचन पड़ते हैं। उसकी कृपा दृष्टि है सब पर, वह स्वयं तो अनंग मोचन हो गया है। उसमें विकार है ही नहीं। वह शिव स्वरूप हो गया है। उससे अब केवल विश्व कल्याण होता है।

'यत्पूर्वं प्रभुणाकृतं सुकविना श्रीशम्भुना दुर्गमं,
श्रीमद्रामपदाब्जभक्तिमनिशं प्राप्त्यैतु रामायणम् ।
मत्वा तद्रघुनाथनामनिरतं स्वान्तस्तमः शान्तये,
भाषाबद्धमिदं चकार तुलसीदासस्तथा मानसम् ॥
पुण्यं पापहरं सदा शिवकरं विज्ञानभक्तिप्रदं,
मायामोहमलापहं सुविमलं प्रेमाम्बुपूरं शुभम् ।
श्रीमद्रामचरित्रमानसमिदं भक्त्यावगाहन्ति ये,
ते संसारपतङ्गघोरकिरणैर्दह्यन्ति नो मानवाः ॥'

सर्वश्रेष्ठ कवि प्रभु भगवान शंकर ने श्रीमान् श्रीरामभद्र के श्रीचरणों में अहर्निश अविच्छिन्न भक्ति की प्राप्ति के लिये जिस दुर्गम रामायण का निर्माण किया था, उसी (रामायण) को श्री रघुनाथ के नाम में लगी जानकर अपने अन्तःकरण के अज्ञानान्धकार के शमनार्थ तुलसीदास ने श्रीरामचरित मानसके रूप में भाषावद्ध किया।

यह श्री रामचरित मानस पुण्य स्वरूप, पापहारी, सर्वदा कल्याणकारी, विज्ञान एवं भक्ति का दाता, माया-मोह तथा मल का नाशक, अत्यन्त निर्मल प्रेमवारि से पूर्ण तथा शुभ है। जो मनुष्य भक्ति-पूर्वक इसमें स्नान करते हैं वे संसार रूपी सूर्य की प्रचंड (दुःख) किरणों से जलते (तप्त होते) नहीं।

मंगलाचरण तो हो चुके। यह ग्रन्थ के अन्तिम दो श्लोक हैं। इनमें निर्माता ने ग्रन्थ का स्वरूप, उसका उद्गम, अपने निर्माण का अभिप्राय तथा ग्रन्थ का माहात्म्य बतलाया है।

इसके बिना प्रकाश-पथ अपूर्ण रह जायगा। पाठकों को तो ग्रन्थ के सम्बन्ध में वाह्य स्वरूप का ज्ञान यहीं से प्राप्त होता है।

गोस्वामी जी कह रहे हैं कि मैंने न तो वाल्मीकीय रामायण का आश्रय लिया है और न अध्यात्म रामायण का। मैंने तो आश्रय लिया है उस रामायण का जिसे भगवान शंकर ने निर्मित किया। भोले बाबा प्रभु हैं, उन्हें श्री रघुनाथ के 'सुगम-अगम' चरितों में भ्रम हो नहीं सकता। प्रभु होने के कारण ही वे रामायण निर्माण के सर्व श्रेष्ठ अधिकारी हैं। उन प्रभु-समर्थ का वर्णन ही प्रमाण होना चाहिये। साथ ही वे सुकवि हैं। काव्य के सभी गुण उनकी रचना में हैं। किन्तु इसका फल यह हुआ कि उनकी रामायण दुर्गम हो गई। उन समर्थ सुकवि की रचना का रहस्य साधारण समझ से परे है। बड़े-बड़े मस्तिष्क उसमें टक्कर मारकर रह जाते हैं। उसमें गति उन आशुतोष की कृपा के बिना नहीं होती।

आत्माराम आप्तकाम भगवान शिव इस काव्य-निर्माण के पचड़ों में पड़े ही क्यों? उन्हें भी क्या लोक-प्रशंसा चाहिये? ऐसी बात नहीं। वे हैं परम राम भक्त। श्री राघवेन्द्र की सतत भक्ति की प्राप्ति के लिये उन्होंने इसका निर्माण किया है। उनमें वैसे भक्ति का कुछ अभाव नहीं है पर प्रेमी को अपना प्रेम सदा अपूर्ण ही दिखाई पड़ता है और भगवद्भक्त अपने प्रभु का, उनके चरितों का निरन्तर ध्यान, स्मरण ही तो करते हैं? अपने निरन्तर चिन्तन के लिये गान के लिये भगवान शंकर ने इस रामायण का निर्माण किया है। इसके द्वारा वे सतत भक्ति-सुधा में तन्मय रहते हैं।

चरितों की तन्मयता एवं रहस्य समझने की योग्यता से नहीं, केवल रघुनाथ के नाम की इसमें अपार महिमा देखकर

हम (तुलसीदास) ने इसे अपने अंतःतम की शान्ति के लिये भाषाबद्ध किया है। नाम–प्रभाव से अन्तःकरण की शुद्धि की पूरी आशा है। भगवान शंकर के दुर्गम रहस्य को समझकर यह साहस नहीं हुआ है। उसे समझने की योग्यता है भी नहीं। यह श्रीरामचरित मानस कोई हमारी मौलिक रचना नहीं है। हमने तो उसे केवल भाषाबद्ध किया है। उसी शिवकृत रामायण का भाषानुवाद किया है।

यहां तक गोस्वामी जी ने रामायण का परिचय दिया। उनके इतना स्पष्ट कह देने पर भी वाल्मीकीय या अध्यात्म रामायण में उनके मानसका आधार ढूंढ़ना कोई बुद्धिमानी नहीं है। भगवान शिवकृत जो संस्कृत में रामायण थी, जिसका श्री रामचरित मानस को गोस्वामी जी भाषानुवाद कहते हैं; वह अत्यन्त दुर्गम थी। मेरी राय में आज वह प्राप्य नहीं है। अस्तु अब आगे इस भाषाबद्ध मानस का महत्व बतलाते हैं।

श्री रामचरित मानस को मानस का रूपक ग्रन्थ में दिया गया है और इस माहात्म्य में भी वे उसे मानस के ही रूप में देख रहे हैं। अतः फल भी वे अवगाहन का ही बतलावेंगे। वस्तुतः बिना किसी भाव में अवगाहन किये, सिर तक डूबे, उसका पूर्ण प्रभाव प्रत्यक्ष होता भी नहीं। स्नान का अर्थ है रोम-रोम को भिगा देना। पूर्णतः डुबकी लगा लेना। इसी प्रकार ग्रन्थ का अवगाहन है उसमें सम्पूर्ण भाव से तन्मय हो जाना।

अवगाहन पुण्यस्थल–तीर्थों में होता है। यह मानस पुण्य है, तीर्थ स्वरूप है। जिसमें श्री रघुनाथ का निवास हो, उससे पुण्य तीर्थ और कहां मिलेगा। तीर्थों में और क्या विशेषता होती है ? वहां देव-सानिध्य होता है। वह यहां है। इस तीर्थका प्रभाव पापहारी है। सभी तीर्थ यही प्रभाव करते हैं। तीर्थों में

तो अपराध करने से अकल्याण भी होता है; पर यह तीर्थ सदा कल्याणकारी है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता है विज्ञान और भक्तिदान। तीर्थों में मरने से स्वर्ग होता है। काशी में मृत्यु विज्ञान-दान करके मुक्ति देती है और श्री अवध में कुछ काल-मात्र वास करके अन्यत्र कहीं भी मरने से जन्मान्तर में राम-भक्ति प्राप्त होती है और अवध में मरने से तो 'चारि खानि जग जीव अपारा। अवध तजे तनु नहिं संसारा॥' पर इस तीर्थ में तो जीवित ही विज्ञान और भक्ति दोनों प्राप्त होती हैं।

इस मानस के स्नान से साधारण मैल ही नहीं, माया और मोहरूपी मैल भी दूर होते हैं। इस मानस में स्नान मानसिक ही तो होगा? अतः मन के मैल छूटेंगे। इसका जल मैला नहीं, अत्यन्त निर्मल है। घटा या सूखा नहीं। पूरा भरा हुआ है और जल का स्वरूप है प्रेम। स्वास्थ्य के लिए यह लाभप्रद है, शुभ है।

अश्रद्धा से तीर्थ-स्नान का फल नहीं होता। अतः इस तीर्थ में भी श्रद्धा से ही स्नान का फल होगा। उन्हीं मानवों को फल होगा, जो भक्तिपूर्वक अवगाहन करेंगे। फल क्या होगा? अरे स्नान का फल-ताप नाश। सूर्य की धूप ने तपाया हो तो स्नान कर लो! इस सर में स्नान करने वाले संसार-रूपी सूर्य की घोर किरणों से-त्रयताप से सुरक्षित हो जाते हैं—बस!

अच्छा अब आप इस प्रकाश-पथ से उस दिव्य मानस में अवगाहन करके त्रय-ताप की दाह से सुरक्षित हो जाइये! हमें भी अपने पुण्य-प्रताप से आशीर्वाद दीजिये कि वह 'केकी-कण्ठाभ नील अनुकूल रहे!! श्री हरिः शरणम्॥

मानस संघ द्वारा प्रकाशित पुस्तकें

१–शतपञ्च चौपाई	पं. विजयानंद त्रिपाठी		२.७५
२–मानस पञ्चतत्व		"	.७५
३–महात्मा बाली	श्री सुदर्शनसिंह		.३१
४–श्री भगवन्नाम संकीर्तन		"	.१०
५–देवर्षि नारद		"	.३१
६–जीवन निर्माण [कहानियां]		"	.६२
७–श्री हनुमान चालीसा सटीक		"	.२५
८–श्री हनुमान चालीसा मूल सचित्र			.१०
९–शत्रुघ्नकुमार की आत्मकथा		,,	३.००
१०–प्रभु आवत		"	४.००
११–मानस के अनुष्ठान		"	.३५
१२–राक्षसराज		"	२.००
१३–साधन सोपान		"	.७५
१४–जरठ जटायु		"	.३१
१५–अनुरागी केवट	पं० रामरक्षित रामायणी		.५०
१६–श्री मानस सिद्धांत	वेदान्त भूषण श्री पं० रामकुमारदास जी रामायणी		२.५०
१७–धर्मरथ	पं० रामकुमारदास जी रामायणी		.७५
१८–सुख शान्ति के दो मन्त्र	(संत विनोत बिहारीदास 'विनीत')		.३०
१९–वीर वधू उर्मिला		"	.१५
२०–अनुसुइया चरित्र		"	.३०
२१–व्यंगोपदेश		"	.६०
२२–भगवत भजन कीर्तन		"	.३५
२३–विवाह प्रसङ्ग		"	.२५
२४–सुखी जीवन		"	.२५
२५–कथा कुसमाञ्जलि		"	१.००

२६–नवधा भक्ति के भक्त
(संत विनीत बिहारीदास 'विनीत') .६

२७–बाल चरित्र " .७

२८–मानस में हठीला भक्त केवट " .

२९–श्री वैदेही की विदा " .२

३०–नये युग का नारद मोह " .३

३१–जटायू की जीवनान्त झांकी " .२

३२–मानस में चरित्र बल " .४

३३–मानस में महिला समाज " .२

३४–मानस में रुचिर प्रसंग " .२

३५–मानस में प्राचीन दहेज प्रथा
और आज उसकी व्यथा " .४

३६–मानसकण गो० महन्त रोशनपुरी १.०

३७–गूढ़ार्थ चन्द्रिका द्वितीय खण्ड ३.०
दण्डी स्वामी प्रज्ञानानन्द जी सरस्वती

३८–बान्धवेश महाराज रघुराजसिंह १.०
गुरु श्री रामप्यारे अग्निहोत्री

३९–तुलसी तीर्थ रामवन १.०

४०–तुलसी शोध डा० वीरेन्द्रपाल श्रीवास्तव २.०

४१–मानस तरंग (प्रथम खंड) १.५
(कविरत्न पं० भैरवप्रसाद द्विवेदी)

४२–मानस तरंग (तृतीय खंड)
कविरत्न पं० भैरवप्रसाद द्विवेदी १.

४३–मानस हिलोर पं० रामरक्षित रामायणी .६०

४४–तुलसीके द्वादश दल व्योहार राजेन्द्रसिंह ६.०

मन्त्री—मानस संघ, पो० रामवन, (सतना)
पिन कोड नं० ४८५१११